तात्त्विक और सदाचार प्रेरक सशक्त, किन्तु
सरल एवं सुबोध कथानक

संस्कार

© लेखक :
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५

प्रथम संस्करण : ५ हजार २००
१ जनवरी, १९९१ : केवलज्ञान कल्याणक
श्री आदिनाथ दि० जैन पंचकल्याणक महोत्सव, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले

दातारों की नामावली

१. श्री राजेशकुमार जैन 'टोनी' अरिहन्त स्टील एवं एलोयस लिमिटेड, मुजफ्फरनगर	५०१)
२. श्रीमती तेज कुंवारी – श्री उम्मेदमलजी बड़जात्या	५०१)
३. श्रीमती बसंतीदेवी छाबड़ा ध. प. श्री हरकचदजी छाबड़ा C/o श्री कैलाशचंदजी छाबड़ा, बम्बई	५०१)
४. श्री सुरेशचंद सुनीलकुमार जैन, अशोक बैंगल्स, बैंगलोर	५०१)
५. सुशीला बहिन, बैंगलोर	५०१)
६. जयन्ती भाई धनजी भाई दोसी, दादर, बम्बई	१११)
७. चौ. फूलचंदजी जैन, मनोज एण्ड कं, बम्बई	१०१)
८. श्री ताराचंदजी प्रेमी, फिरका (हरियाणा)	१०१)
९. श्रीमती बेटीबाई जैन विदिशा (म. प्र.)	१०१)
१०. श्रीमती कमला भारिल्ल ध. प. पं. रतनचंद भारिल्ल जयपुर	१०१)
	३०२०)

मूल्य :
साधारण : ७ रुपये
सजिल्द : ८ रुपये

प्राप्ति स्थान :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड, जयपुर

प्रकाशकीय

आजकल अन्य गद्य-पद्य साहित्य की अपेक्षा कथा-कहानी के रूप में लिखा गया साहित्य अधिक लोकप्रिय हो रहा है। बालवर्ग और युवावर्ग तो पाठ्य-पुस्तकों के सिवाय शेष समय में कथा-कहानियाँ और उपन्यास ही सबसे अधिक पढ़ता है।

आजकल ही क्या पहले भी यही स्थिति रही होगी, तभी तो हमारे पूर्वाचार्यों ने भी इस जनरुचि को ध्यान में रखकर प्रथमानुयोग के रूप में कथासाहित्य का सृजन भी काफी मात्रा में किया है। संस्कृत साहित्य में भी पंचतंत्र जैसी प्रसिद्ध कहानियाँ इसी लोकरुचि का परिणाम हैं।

इस कथाशैली के माध्यम से कठिन से कठिन तात्त्विक सिद्धान्तों को भी सरलता से पाठकों तक पहुँचाया जा सकता है। अतः यदि हम अपने नन्हें-मुन्ने बालक-बालिकाओं तथा युवापीढ़ी को कुछ तत्त्वज्ञान और सदाचार के संस्कार देना चाहते हैं, उनमें धार्मिक रुचि व नैतिक जागरण उत्पन्न करना चाहते हैं तो उनकी पसंद को ध्यान में रखकर उनकी भाषा-शैली में भी जैन-साहित्य का निर्माण करना/कराना होगा। तभी वे तत्त्वज्ञान से व जैनाचार से परिचित हो सकेंगे।

अब बड़े-बड़े ग्रन्थ और पुराण पढ़ने का न तो उनके पास समय है और न वैसी रुचि है, इसकारण युगपरिवर्तन के साथ जिनवाणी के मूल भावों को सुरक्षित रखते हुए वर्तमान कथासाहित्य की शैली में भी जैनसिद्धान्त और सदाचार की बातों को लिखने की जरूरत है।

यदि रामायण और महाभारत जैसे संस्कृत के बड़े-बड़े ग्रन्थों और पुराणों को टी. वी. सीरियलों के रूप में परिवर्तित नहीं किया गया होता तो वे जन-साधारण में इतने लोकप्रिय नहीं हो पाते।

अतः क्यों न जैनसाहित्य की विषयवस्तु को भी ऐसे ही जनप्रिय बनाने का प्रयत्न किया जाए ? यदि हम भी बड़े-बड़े पुराणों के कथानकों को आधुनिक कथा-कहानियों और उपन्यासों की शैली में प्रस्तुत कर सकें तो हम जिनवाणी का अधिक प्रचार-प्रसार कर सकेंगे।

'सत्य की खोज' उपन्यास और 'आप कुछ भी कहो' कहानी संग्रह इस दिशा में सफल सिद्ध हुए हैं।

प्रस्तुत 'संस्कार' नामक कथानक के माध्यम से पण्डित श्री रतनचंदजी भारिल्ल का भी इस दिशा में किया गया यह एक सफल प्रयोग है। यद्यपि इसकी कथावस्तु में पौराणिक आधार नहीं लिया गया है, इसकी विषयवस्तु पूर्ण स्वतन्त्र व मौलिक है, पर इसके अधिकांश अध्यायों में जैनदर्शन का कोई न कोई सिद्धान्त और सदाचार प्रेरक प्रसंग तो आया ही है।

इसमें धार्मिक संस्कारों के लाभ और कुसंस्कारों की हानि को तो बहुत ही प्रभावक ढंग से चित्रित किया गया है तथा उनके यथास्थान समाधान भी सुझाये हैं।

दुराचार और पापाचार के दुष्परिणामों का चित्रण करते हुए उनसे बचने का भी मार्गदर्शन दिया है।

संतान के बिगड़ने में माता-पिता की आवश्यकता से अधिक सावधानी और जरूरत से ज्यादा लापरवाही दोनों का ही समान हाथ होता है। इसमें किसप्रकार के संतुलन की जरूरत है ? — इस बात को बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

दहेज के स्वरूप और विकृतियों पर भी मौलिक ढंग से अच्छा प्रकाश डाला है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इसमें वर्तमान में प्रचलित अधिकांश समस्याओं को किसी न किसी रूप में पात्रों के माध्यम से बातों ही बातों में समाधान सहित प्रस्तुत करने का उत्तम प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें साम्प्रदायिक सद्भाव को पूरी तरह सुरक्षित रखते हुए जैनाचार

और तत्वविचार को बहुत ही सशक्त भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इसकारण यह कृति जैन-अजैन सभी सम्प्रदायों के लिए समान रूप से पठनीय एवं संग्रहणीय बन गई है।

जब मैंने इसकी कई किस्तों को क्रमशः जैनपथप्रदर्शक में पढ़ा तो मेरी भावना हुई कि क्यों न इसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जाय? क्योंकि किस्तों में पढ़ने में वह आनन्द नहीं आता जो एक साथ धाराप्रवाह पढ़ने में आता है।

हमें विश्वास है जो भी इसे एक बार पढ़ेगा, वह अपने इष्ट-मित्रों व बन्धु-बान्धवों को भी इसे पढ़ने की प्रेरणा दिए बिना नहीं रह सकेगा।

हमें यह भी विश्वास है कि पण्डित श्री रतनचंदजी भारिल्ल की यह कृति भी उनके पूर्व में प्रकाशित "णमोकार महामंत्र" और "जिनपूजन रहस्य" की तरह ही जनप्रिय होगी।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि उपर्युक्त दोनों ही कृतियाँ तीन साल की अल्प अवधि में हिन्दी में तो तीन व चार संस्करणों में २०व२५ हजार की संख्या में प्रकाशित होकर घर-घर पहुँची ही हैं; गुजराती, मराठी, कन्नड़ व तमिल भाषाओं में भी ये प्रकाशित होकर घर-घर पहुँच रही हैं।

पण्डितजी जैनपथ प्रदर्शक के द्वारा तो समाज की सेवा कर ही रहे हैं, पूज्य गुरुदेवश्री के समयसार, समाधितंत्र, भक्तामर आदि ग्रन्थों पर हुए प्रवचनों का अनुवाद और समय-समय पर स्वतंत्र साहित्य का सृजन करके भी तत्वप्रचार-प्रसार में योगदान देते रहते हैं।

हम आपके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए उनके स्वस्थ्य और दीर्घ जीवन की कामना करते हैं।

—नेमीचंद पाटनी

अन्तर्भावना

कथा-साहित्य साहित्य-क्षेत्र की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। सत्य और तथ्य को जन-जन तक पहुँचाने का इससे अधिक सशक्त और सुलभ माध्यम अभी तक कोई दूसरा विकसित नहीं हो सका है।

सत्साहित्य का निर्माण परमसत्य के उद्घाटन के लिए किया जाने वाला महान कार्य है; अतः इसका पठन-पाठन भी परमसत्य की उपलब्धि के लिए गंभीरता से किया जाना चाहिए; पर आज इसे मात्र मनोरंजन की वस्तु बना लिया गया है।

इसप्रकार का दुरुपयोग कथा-साहित्य में सर्वाधिक हुआ है। साहित्य की सर्वाधिक प्रभावशाली एवं शक्ति-सम्पन्न यह विधा आज लोगों का मनोरंजन करने मात्र में उलझकर रह गई है :–इससे बड़ा दुर्भाग्य साहित्य का व समाज का और क्या हो सकता है ?

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है; पर यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य मात्र दर्पण नहीं, दीपक भी है, मार्गदर्शक भी है, प्रेरक भी होता है। जो साहित्य प्रकाश न बिखेरे, मार्गदर्शन न करे, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा न दे; मात्र वर्तमान समाज का कुत्सित चित्र प्रस्तुत करे या मनोरंजन तक सीमित रहे; वह साहित्य साहित्य नहीं, साहित्य के नाम पर कलंक है।

जिसप्रकार अणुशक्ति का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी; उसके सदुपयोग से यदि हम समृद्धि के शिखर पर पहुँच सकते हैं तो दुरुपयोग से सर्व विनाश भी संभव है। इसीप्रकार साहित्य की इस सशक्त विधा के सदुपयोग से यदि हम परम सत्य को जन-जन तक पहुँचा सकते हैं तो दुरुपयोग से अनजान जनता को चमत्कारों के घटाटोप में भी उलझा सकते हैं, मंत्र-तंत्रों के चक्कर में भी फंसा सकते हैं; कुछ नहीं तो मनोरंजन के नाम पर उनके इस महत्त्वपूर्ण मानव-जीवन के अमूल्य क्षणों को यों ही बरबाद तो कर ही सकते हैं।

मध्ययुग में जैनकथा साहित्य में भी इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं, जिनमें चमत्कारों को प्रोत्साहित किया गया है, शिथिलाचार के विरुद्ध आवाज उठाने वालों को डराया-धमकाया गया है, मंत्रों-तंत्रों के घटाटोप में उलझाने का प्रयास किया गया है। प्रत्येक कथा की लगभग एक ही थीम पाई जाती है कि जिसने किसी शिथिलाचारी की अवहेलना की, वह अनेकों बार नरक में गया, कूकर-सूकर हुआ; अन्ततोगत्वा जब वह किसी शिथिलाचारी की शरण में आया; तभी इस दुष्चक्र से बच पाया।

यदि उक्त साहित्य को वीतरागी जैन तत्वज्ञान की कसौटी पर कसकर देखें तो उसे जैनसाहित्य कहना भी संभव नहीं है। मेरी इस बात को जैन पुराण साहित्य के सन्दर्भ में नहीं समझना चाहिए। मैं तो उस साहित्य की बात कह रहा हूँ, जो कथा-साहित्य मध्ययुगीन शिथिलाचारियों द्वारा रचा गया है। एक तो उन्होंने काल्पनिक कथाएँ गढ़ी हैं, दूसरे पुराण साहित्य के सन्दर्भों को अपने मनोनुकूल तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है तथा मिथ्यात्व के पोषक निष्कर्षों को निकाला गया है।

ऐसी स्थिति में कुछ इसप्रकार के कथा-साहित्य की महती आवश्यकता है, जो आधुनिक सन्दर्भ में उपयोगी हो और जैनतत्वज्ञान को सरल व सुबोध भाषा में सयुक्ति प्रस्तुत करता हो; जिससे आज की पीढ़ी प्रभावित हो सके और जैनतत्वज्ञान को सीख सके, जैनतत्वज्ञान सीखने के लिए रुचिवंत हो सके।

उक्त दिशा में कुछ इक्के-दुक्के प्रयास इन दिनों में हुए हैं। उनका लेखा-जोखा करना यहाँ न तो संभव ही है और न आवश्यक; जब उनकी संख्या इस योग्य हो जाएगी तो इतिहासकार उसकी समीक्षा करेंगे ही।

पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल द्वारा लिखित यह कृति भी उसी दिशा में किया गया एक सत्प्रयास है, जो निश्चितरूप से समाज को एक दिशा-निर्देश देगा।

'संस्कार' नामक इस कृति में सशक्त रूप से यह कहने का प्रयास किया गया है कि संस्कार-विहीन पीढ़ी स्वयं तो संकटग्रस्त है

ही, परिवार और समाज के लिए भी घातक सिद्ध हो रही है; अतः वीतरागी तत्वज्ञान और संस्कारी समाज की सुरक्षा के लिए भावी पीढ़ी को सुसंस्कार देने की महती आवश्यकता है।

यह कहानी किसी एक गाँव की नहीं है, गाँव-गाँव की कहानी है। भारत के प्रत्येक नगर-उपनगर में ज्ञान, विज्ञान और सुदर्शन चाहे न मिलें; पर संजू, राजू, अंजू और अन्नू तो मिल ही जाएंगे। यदि इस कृति से प्रेरणा पाकर दस-बीस परिवार ही कुछ सीख सके, सन्मार्ग पर आ सके; तो लेखक का श्रम सार्थक हो जाएगा।

मैं तो यह चाहता हूँ कि जिनमें लेखन शक्ति है, वे इसप्रकार का साहित्य निर्माण करें; जिनमें इसप्रकार की शक्ति नहीं है, वे इसप्रकार के साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास करें; क्योंकि जितनी आवश्यकता इसप्रकार के साहित्य निर्माण की है, उतनी ही आवश्यकता इसे जन-जन तक पहुँचाने की भी है। इसका वास्तविक लाभ तो तभी होगा, जब यह जन-जन तक पहुँचेगा। एतदर्थ सभी आत्मार्थीजन अपनी-अपनी योग्यतानुसार इस भागीरथ प्रयास में जुटें। जब हम सब अपनी-अपनी योग्यता, शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार इस काम में सक्रिय होंगे; तभी संस्कार-विहीन पीढ़ी को संस्कारित करने का यह महान कार्य कुछ अंशों में सम्पन्न हो सकेगा।

किसी भी कथा कृति को कथासाहित्य की कसौटी पर कसना तो समीक्षकों का कार्य है; पर मैं तो इसप्रकार के साहित्य की उपयोगिता और आवश्यकता को गहराई से अनुभव कर रहा हूँ; अतः यही प्रेरणा देना चाहता हूँ कि इसप्रकार का साहित्य अधिक से अधिक लिखा जाए और अधिक से अधिक जन-जन तक पहुँचे।

१८-१२-१९९०　　　　　　　　　　— डॉ० हुकमचंद भारिल्ल

संस्कार के सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेवश्री के

दो शब्द

जो सत्य का श्रवण रुचि पूर्वक करता है, उसमें उससे सत्य के संस्कार पड़ते हैं, इन सत्य के संस्कारों से धर्म प्राप्त होता है। भले अभी विकल्प न टूटे; तो भी उसके संस्कार से भविष्य में धर्म प्राप्त होता है।

— श्री कानजी स्वामी : आत्मधर्म : मार्च, १९७८; पृष्ठ २६

अपनी बात

सौभाग्यशाली हैं वे व्यक्ति, जिन्हें जन्म-जन्मान्तर और पीढ़ी-दर-पीढ़ी से तत्वज्ञान और सदाचार के संस्कार मिलते आ रहे हैं। तथा धन्य है उनका जीवन, जो उन संस्कारों के सम्बल से और अपने उग्र पुरुषार्थ से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कीचड़ में पड़े कंचन की भाँति आत्मोन्नति के मार्ग पर चलते हुए लौकिक बुराइयों से बचे रहते हैं।

पर, कितने हैं ऐसे सौभाग्यशाली, संस्कारी और पुरुषार्थी व्यक्ति, जिन्हें ये आत्मोन्नति के अवसर सहज प्राप्त हो जाते हैं? अधिकांश व्यक्ति तो ऐसे ही होते हैं, जिनकी मनःस्थिति उनकी पारिवारिक परिस्थितियों पर ही निर्भर करती है।

यदि संस्कार विहीन व्यक्तियों को भोगवादी भौतिक वातावरण मिल जाता है तो उनके साथ तो "करेला और नीम चढ़ा" वाली कहावत ही चरितार्थ होती है। करेला स्वयं कड़वा और फिर नीम चढ़ी बेल पर फूला-फला हो तो उसकी कड़वाहट का तो कहना ही क्या है?

प्राणियों में संस्कार दो तरह से आते हैं, एक तो जन्म-जन्मान्तरों से और दूसरे पीढ़ी-दर-पीढ़ियों से। दोनों प्रकार के संस्कारों से नई पीढ़ियाँ प्रभावित होती हैं। अतः प्रत्येक माता-पिता की यह जिम्मेदारी है कि वह अपनी संतान को दोनों प्रकार के सुसंस्कारों से संस्कारित करें और उन्हें कुसंस्कारों से बचायें। इस अन्तर्भावना ने ही मुझे इस कृति को लिखने के लिए उत्प्रेरित किया है।

प्रस्तुत 'संस्कार' नामक कथानक में विविध पात्रों के माध्यम से जीवन के यथार्थ को रेखांकित करते हुए भले-बुरे संस्कारों का प्रभाव एवं उनसे होनेवाले लाभ-हानि का दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया गया है।

इसमें अत्यन्त सरल, सुबोध भाषा-शैली में जैनदर्शन का गंभीर त्वक चिंतन प्रस्तुत करने का प्रयास भी स्थान-स्थान पर किया है। तथा दो परिवारों के माध्यम से दैनिक जीवन में घटित होनेवाली पारिवारिक व सामाजिक समस्याओं को उभारते हुए उनके उचित समाधान खोजने का भी प्रयास किया है। इन्हीं सबके साथ खान-पान की शुद्धि, अहिंसक आचरण, साम्प्रदायिक सद्भाव और नैतिकता के प्रेरणादायक प्रसंग भी कथानक की सहज स्वाभाविक कथा-यात्रा के बीच-बीच में प्रस्फुटित होते गये हैं, जो पाठकों को विशेष लाभप्रद होंगे।

वस्तुत: यह कथानक, कथानक के लिए लिखा कथानक नहीं है, बल्कि कथानक के सहारे मैंने कल्पित पात्रों द्वारा जैनाचार और तत्वविचार को ही आगम सम्मत युक्तियों और अनुभवों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों की अक्षमता और शासन की लापरवाही के कारण शिक्षण में जो धांधली चल रही है, अबोध बालकों के साथ जो खिलवाड़ हो रहा है; उस ओर शिक्षकों और समाज का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास भी किया गया है।

दहेज प्रथा और परिवार नियोजन जैसी ज्वलंत समस्याओं पर भी मौलिक एवं नया चिंतन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अनेक पात्रों वाले इस कथानक में साधु-संतों के श्रीमुख से सदाचार प्रेरक और तात्विक प्रवचन भी रोचक शैली में कराये गये हैं। उनसे पाठक जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों से परिचित तो होंगे ही, उनकी तर्क और युक्तियों से प्रभावित भी होंगे – ऐसा मेरा विश्वास है।

अपनी बात को कहने में मैं कितना सफल हो सका हूँ, इसका निर्णय तो मेरे प्रबुद्ध पाठक ही करेंगे। 'जयजिनेन्द्र'।

– रतनचंद भारिल्ल

१

"क्यों रे विज्ञान ! तू कल दिनभर कहाँ छिपा रहा ? इसतरह कबतक छिपता रहेगा ? अब तो तू दस वर्ष का हो गया है, क्या अब भी धाय माँ का पल्लू पकड़े-पकड़े फिरेगा ? क्या अभी भी लड़कियों की तरह रंग-गुलाल से डरता है ? डरपोक कहीं का !" – उसके अहं पर चोट करते हुए सुदर्शन ने कहा ।

"डरने की तो कोई बात नहीं है मित्र ! पर मुझे यह होली की हुड़दंग बिल्कुल पसन्द नहीं है । मैं खूब सोचता हूँ, पर मेरा मन ही नहीं होता इस रासलीला में शामिल होने को ।" – विज्ञान ने सहज भाव से कहा ।

पास में खड़े ज्ञान ने सुदर्शन के कान में कुछ कहा और दोनों मन ही मन मुस्कुराते हुए कक्षा में चले गये ।

कहने को तो होली का त्योहार एक दिन का ही होता, पर वस्तुतः इसका प्रभाव रंग पंचमी तक रहता है । भले छुट्टियाँ न भी हों, तो भी शालायें और कार्यालय इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहते ।

× × ×

जो गम्भीर प्रकृति के होते हैं, जिन्हें अधिक हुड़दंग पसन्द नहीं है, जब वे भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह पाते तो फिर जैननगर की शासकीय शाला के छात्र-छात्रायें इसके प्रभाव से अछूते कैसे रह सकते थे ?

होली के दूसरे दिन शासकीय नियम के अनुसार रंग व गुलाल से होली खेलने का निषेध होने पर भी बालक-बालिकाओं के दिलों में रंगारंग की उमंग कम नहीं हुई थी । उनकी देह पर से भी अभी पूरी तरह रंग नहीं उतरा था ।

अधिकांश छात्र-छात्राओं की चोरजेबों में रंग और गुलाल की पुड़ियाँ छुपी-छुपी मुस्करा रही थीं तथा उनके गालों की लाली बनने की प्रतीक्षा कर रही थीं ।

ज्यों ही मध्यावकाश की घंटी बजी कि क्षण भर में सभी छात्र-छात्राएँ क्रीड़ा शिक्षक के निर्देशानुसार खेल के मैदान में पहुँच तो गये, पर शिक्षक के देखते ही देखते पल भर में शाला का सम्पूर्ण वातावरण होली की हुड़दंग में बदल गया।

उनमें एक आठवर्षीय तीसरी कक्षा में पढ़नेवाली भोली-भाली सूरतवाली 'विद्या' नाम की लड़की भी ऐसी थी, जिसे रंग-गुलाल लगाना व लगवाना बिल्कुल ही पसन्द नहीं था। यदि कोई उसे हठाग्रह करके रंग-गुलाल लगा देता तो वह घंटों रोती रहती थी। पर पता नहीं आज उसका हृदय किस तरह उत्साह व उमंग से भर उठा और न मालूम उसे क्या सूझा कि उसने शाला के मध्यान्ह कालीन अवकाश में, जब खो-खो का खेल होली की हुड़दंग में बदल गया था, तब उसने चुपके-चुपके से 'विज्ञान' के पीछे जाकर धीरे से उसके गालों पर गुलाल मल दी और जोर-जोर से ताली बजाते हुए खिल-खिलाकर हँस पड़ी। पर ज्यों ही अन्य छात्र-छात्राओं ने उसकी ओर आश्चर्य भरी दृष्टि से देखा तो वह सहम गई, शरमा गई और अपने में सिमट गई।

उस बालिका की इस असंभावित सहज स्नेहपूर्ण शरारत को देखकर बालक विज्ञान क्षण भर तो स्तंभित रह गया, पर थोड़ी ही देर में उसके मन में भी किसी अन्तःकरण के कोने से सुसुप्त संस्कार जागृत हो गये। और अज्ञात अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर उसने भी चुपचाप अपने मित्र से गुलाल की पुड़िया मांगकर विद्या के गालों पर मलते हुए माथे में सिन्दूर-सा भर दिया।

उनके इस अप्रत्याशित व्यवहार को देखकर सभी छात्र-छात्राऐं तो अचंभित थे ही, अध्यापक-अध्यापिकाएँ भी उन्हें आश्चर्यभाव से देख रहे थे और परस्पर में कह रहे थे कि "इनके इस व्यवहार को देखकर तो ऐसा लगता है कि इनका तो पिछले जन्म-जन्मान्तर का कोई अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके ये संस्कार इस जन्म में भी इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकते।"

कक्षा पाँच के बाद तो वे सब बिखर गये; पर जिसका जिसके साथ जिस तरह का संस्कार होता है, प्रकृति उसे सहज रूप से ही मिला देती है।

बड़े होने पर विज्ञान, विद्या, ज्ञान और सुदर्शन चारों चार राहों से आकर फिर एक चौराहे पर मिल गये।

× × ×

ज्ञान, विज्ञान और सुदर्शन एक ही नगर के रहने वाले और एक साथ खेलने वाले बालसखा थे। तीनों की प्रारम्भिक शिक्षा एक ही स्कूल में हुई थी, पर सुदर्शन और ज्ञान के पिता ने प्रारम्भ से ही अपने बेटों को लौकिक शिक्षा के साथ नैतिक शिक्षा और धार्मिक संस्कार भी दिये थे, परन्तु विज्ञान को यह सौभाग्य नहीं मिल पाया था।

विज्ञान का परिवार भी धार्मिक तो था, पर दुर्भाग्य से परिस्थितियों की प्रतिकूलताओं ने उसे ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया था, जहाँ से केवल एक ही रास्ता खुलता था और वह था पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति से युक्त भौतिकवाद का।

उसकी माँ तो उसके जन्म लेते ही चल बसी थी, पिताश्री को अपने कल-कारखाने संभालने और उद्योग-धंधों से ही फुर्सत नहीं थी; दुर्भाग्य से दादाजी का सान्निध्य भी बहुत समय तक नहीं मिल सका था। वे भी विज्ञान को पाँच वर्ष का छोड़ दिवंगत हो गये; पर जब तक रहे, तब तक उसे अपने पास ही सुलाते रहे और जब तक उसे नींद नहीं आ जाती तब तक सदाचार प्रेरक पौराणिक कहानियाँ सुनाते रहे। बचपन में विज्ञान को कहानियाँ सुनने का शौक भी बहुत था।

दादाजी जानते थे कि बचपन के ये संस्कारों के बीज निश्चित ही समय पर वातावरण का जल पाकर अंकुरित हो जायेंगे, अतः उन्होंने सोचा जितने गहरे संस्कार डल जावें उतना अच्छा।

पर होनी को कौन टाल सकता है, उसे उनका पूरा लाभ नहीं मिलना था, सो नहीं मिला। असमय में ही उनकी छत्रछाया भी उस पर से उठ गई।

माँ का निधन हो जाने से वह बचपन में तो अधिकांश धाय माँ और नौकरों के हाथों में ही रहा और बड़ा होते ही पाँचवीं कक्षा के बाद उसे एक ऐसे इंगलिश-मीडियम स्कूल एवं होस्टल में प्रविष्ट कर दिया गया, जिसमें वह अपनी भारतीय संस्कृति और सदाचार से दिन-प्रतिदिन दूर अतिदूर होता चला गया। इस कारण उसे

भारतीय श्रमरण संस्कृति की हर बात भटपटी और पोपडम-सी लगने लगी। वह करे तो करे भी क्या ? उसका उठना-बैठना, रहन-सहन, बोल-चाल, खान-पान – सब कुछ बदल चुका था। वातावरण बदल जाने से दादाजी द्वारा डाले गये संस्कारों का रंग भी फीका पड़ गया था। अब उसे अंडे और आमिस भोजन में हिंसा के बजाय विटामिन और शरीर पोषक तत्व ही नजर आने लगे थे।

अब जब भी वे तीनों बालसखा आपस में एक दूसरे से मिलते, तभी किसी न किसी बात पर उनमें भारतीय संस्कृति के विषय में बहस और नोक-झोंक हो जाया करती थी।

ईसाई मिशनरी द्वारा संचालित स्कूल और कॉलेज में पढ़ने तथा होस्टल में लगातार १५ वर्ष के लम्बे समय तक रहने के कारण विज्ञान के खान-पान और रहन-सहन में तो सम्पूर्णतः भौतिकवाद के संस्कार आ ही गये थे, पूजा-पाठ जैसे पवित्र अनुष्ठानों पर से भी उसकी आस्था और विश्वास उठ गया था। केवल एक मानव सेवा ही धर्म है, शेष सब ढोंग है, पाखण्ड है, आडम्बर है – ऐसी धारणाओं ने उसके चिन्तन को विकृत कर दिया था।

इसके सिवाय हृदय को हिला देने वाली ईसामसीह की कुर्बानी की कहानियों ने उसके कोमल हृदय पर ऐसी छाप छोड़ी कि अब उसे एक मात्र ईसू ही सर्वश्रेष्ठ महामानव या ईश्वरीय अवतार के रूप में वन्दनीय एवं प्रातःस्मरणीय हो गये थे।

जब तक वह स्नातक होकर घर लौटा तब तक उसके पिता लक्ष्मीकान्त बड़े लोगों को होने वाले सभी राज रोगों से घिर चुके थे। उनका उद्योग-धंधा केवल भगवान के भरोसे और मुनीम-गुमास्तों एवं मैनेजरों के बल पर ही चल रहा था। घर में कोई दूसरा सहारा तो था नहीं, अतः वे विज्ञान की वापसी की बड़ी बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहे थे।

× × ×

विज्ञान की वापसी से एक ओर जहाँ उन्हें भारी राहत महसूस हुई, वहीं दूसरी ओर उसके बदले हुए विचार, एकदम पश्चिमी सभ्यता के रहन-सहन और खान-पान ने उन्हें विस्मित कर दिया।

उन्होंने तो उसी ईसाई मिशन स्कूल और होस्टल की ही सर्वाधिक प्रशंसा सुनी थी, अतः व्यापारिक दृष्टि से अंग्रेजी मीडियम से

लौकिक शिक्षा दिलाने और नैतिक एवं सदाचारी बनाने के लिए उन्होंने विज्ञान को उस स्कूल में प्रविष्ट करा दिया था। उन्हें क्या पता था कि उनके सदाचार का मापदण्ड भारतीयों के सदाचार से बिल्कुल भिन्न होता है।

वे उद्योग पति तो थे, पर आधुनिक उद्योगपतियों जैसे सातों व्यसनों में पारंगत सर्वगुणसम्पन्न नहीं थे। अधिक पढ़े-लिखे भी नहीं थे। सीधे-सादे सज्जन प्रकृति के धार्मिक रुचि सम्पन्न श्रीमंत थे। अतः उन्हें विज्ञान का बदला हुआ रूप एकदम अटपटा लग रहा था और वे अपने इस कृत्य पर पछता भी रहे थे, पर 'अब पछताये क्या होत है, जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।'

परन्तु वे विवश थे। इसके सिवाय उस समय और करते भी क्या? घर में विज्ञान को संभालने के लिए उसकी माँ भी नहीं थी और अकेले होने के कारण उनके पास उसको देखभाल करने का समय भी नहीं था; अतः घर में रखकर पढ़ाना-लिखाना तो संभव था नहीं और नगर में अन्य लोग भी उत्तम व्यवस्था और उत्तम पढ़ाई की दृष्टि से उसी शिक्षा संस्थान की प्रशंसा किया करते थे और विज्ञान को उसी में प्रविष्ट कराने का परामर्श दिया करते थे, इसकारण ऐसा बनाव बन गया था।

पर उन्होंने इस सम्बन्ध में विज्ञान से कुछ नहीं कहा, कहते भी क्या? उसमें उस बेचारे का दोष भी क्या था? उसे तो जैसा वातावरण मिला, वैसा ढल गया।

जो होना था सो तो हो ही गया; पर उन्होंने इस घटना से प्रेरणा पाकर यह संकल्प किया कि – यदि मैं थोड़े दिन और जीवित रहा तो मैं इस शिक्षा संस्थान के समानान्तर ही एक ऐसा आदर्श शिक्षा संस्थान स्थापित करूंगा, जिसमें आधुनिक संदर्भ में सभी प्रकार की सर्वश्रेष्ठ लौकिक शिक्षा के साथ भारतीय सभ्यता, श्रमण-संस्कृति, नैतिक शिक्षा और अहिंसक सदाचारी जीवन जीने की कला में छात्रों को निपुण किया जाएगा और वीतराग-विज्ञान की महिमा से छात्रों को परिचित कराया जायेगा।

इसके लिए उन्होंने प्रोफेसर ज्ञान के पिता श्री अरहंत जैन, जो स्वयं एक अनुभवी शिक्षाविद थे, को बुलाया और उन्हें अपने विचारों से अवगत कराते हुए परामर्श किया।

वे भी वर्तमान शिक्षा के दोषों को दूर करना चाहते थे, पर अभी तक वे यह सोचकर पीछे हट जाते थे कि – अकेला एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। अतः चुप रहने में ही सार है।

परन्तु अब जब उन्हें एक श्रीमंत का सहारा मिला तो उनका उत्साह तो दस गुणा बढ़ा ही, साहस भी बढ़ गया और उन्होंने इस दिशा में सोचना प्रारम्भ कर दिया तथा उन्होंने सेठ लक्ष्मीकान्त को आश्वस्त किया कि वे तीन माह के अन्दर ही उन्हें इस विषय की आद्योपांत लिखित रूपरेखा प्रस्तुत कर देंगे।

सेठ लक्ष्मीकान्त ने श्री अरहंत जैन से मनोवांछित रूपरेखा पाते ही एक करोड़ रुपये देने की घोषणा करके अपने संकल्प के अनुसार शिक्षा केन्द्र को साकार रूप तो दे दिया, पर वे उसे फूलता-फलता नहीं देख पाये। उनके मरणोपरान्त श्री अरहंत जैन की देख-रेख में वह नव संस्थापित शिक्षा संस्थान प्रारम्भ में एक दशक तक तो अपने उद्देश्यों की ओर अग्रसर रहा, पर उनकी भी आँखें बन्द होते ही उसकी व्यवस्था कुछ ऐसे हाथों में पहुँच गई, जिन्हें धर्म और संस्कृति से तो कोई लगाव था ही नहीं, सामान्य शिक्षा व्यवस्था को सुचारु रीति से चलाने का अनुभव भी नहीं था। इस कारण अब वह शिक्षा संस्थान केवल राजनैतिक चर्चा-वार्ता और अध्यापकों की आजीविका का साधन मात्र बनकर रह गया था।

पिता के दिवंगत हो जाने से अनायास ही विज्ञान के कोमल कंधों पर सम्पूर्ण उद्योग-व्यापार और घर-बाहर का बोझ आ गया था। इसकारण बहुत दिनों तक तो वह कहीं आ-जा भी नहीं सका था और उसका किसी से मिलना-जुलना भी नहीं हो पाया था। पर उसने अपनी चतुराई और दूरदर्शिता से व्यापार को कुछ इस तरह से संभाला और ऐसा व्यवस्थित किया कि उसकी आर्थिक आय पर विपरीत प्रभाव भी न पड़ा और अधिक व्यस्तता भी न रही।

× × ×

विज्ञान अपनी पढ़ाई पूरी करके जब से होस्टल से वापिस घर आया है, तब से अब तक वह अनेक लोगों के मुंह से ज्ञान और सुदर्शन की कार्य-शैली की काफी कुछ प्रशंसा सुन चुका था।

इतना तो उसे भी ज्ञात था कि उन दोनों ने अपने घर पर रह कर ही अपने नगर के इसी शासकीय विद्यालय में आद्योपांत शिक्षा

प्राप्त की है, जहाँ पढ़ाई के नाम पर इकट्ठे होने वाले छात्र-छात्राओं में तो अधिकांश परस्पर एक दूसरे के सच्चे-झूठे प्रेम-प्रसंगों के ही चर्चे हुआ करते थे और अध्यापक लोग राजनीति एवं राजनेताओं पर कपोल-कल्पित टीका-टिप्पणियाँ किया करते।

इन परिस्थितियों में भी वे दोनों अपने बल पर बोर्ड एवं विश्वविद्यालय की प्रत्येक परीक्षा में लगभग पहला-दूसरा स्थान ही पाते रहे। ज्ञान एम.ए., पीएच.डी. करके प्रोफेसर हो गया है और सुदर्शन एल०एल०बी० करके वकील बन गया है।

व्यवसाय के क्षेत्र में वे चले तो अपने-अपने पिता के पद-चिन्हों पर ही, पर कार्य-शैली में वे उनसे बिलकुल भिन्न तरीके से आगे बढ़ रहे थे। उनकी नवीन कार्य-शैली की नगर में सर्वत्र चर्चा थी।

अतः विज्ञान की उनसे मिलने की इच्छा स्वाभाविक ही थी, पर समय की व्यस्तता के कारण अभी तक वह उनसे मिल नहीं पाया था।

× × ×

एक दिन अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकालकर विज्ञान अपने बालसखा प्रो० ज्ञान से मिलने उसके घर गया। उससे मिलते ही हाथ मिलाने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ाते हुए विज्ञान ने कहा – "गुड मार्निंग मि० ज्ञान।"

ज्ञान ने विज्ञान के द्वारा किए गये गुड मार्निंग को अनसुना कर बात बदलने की नियत से कहा – "ओ हो ! विज्ञान तुम! ……..यहाँ ………..! अचानक कैसे याद आ गई कृष्ण कन्हैया को सुदामा की यह कुटिया ? जब से तुम पढ़कर लौटे, तब से तो ईद के चाँद ही हो रहे हो, कभी दिखते ही नहीं, किस दुनिया में रहते हो आजकल ?"

विज्ञान ने भी ज्ञान की औपचारिकता का उत्तर देना आवश्यक न मानते हुए पुनः कुछ जोर से कहा – "गुड मॉर्निंग मि० ज्ञान !"

ज्ञान ने विस्मय भाव से कहा, "क्या कहा ? गुड मॉर्निंग ! मित्र गुड मॉर्निंग नहीं, जयजिनेन्द्र कहो जयजिनेन्द्र।"

"क्यों भाई ज्ञान ! जयजिनेन्द्र क्यों ? गुड मॉर्निंग क्यों नहीं ?" – विज्ञान ने जिज्ञासा प्रकट की।

ज्ञान ने समाधान किया – "हम जैन हैं न !"

विज्ञान ने कहा – "यह तो मैं भी जानता हूँ कि हम जैन हैं, पर क्या जैनों को जयजिनेन्द्र करना ही जरूरी है ? क्या हम गुड मॉर्निंग नहीं कर सकते हैं ?"

ज्ञान ने समझाया – "अरे भाई ! वैसे तो सब स्वतंत्र हैं, सभी अपनी-अपनी मर्जी के मालिक हैं। जो जिसके जी में आये करे। कौन किसको रोक सकता है। पर हमारे उपास्य देव तो जिनेन्द्र भगवान ही हैं न ? अतः हमारे लिए तो वे ही प्रातःस्मरणीय हैं। इसलिए हम प्रातः सर्वप्रथम अपने उपास्य देव – जिनेन्द्र का स्मरण करने के लिए जयजिनेन्द्र करते हैं और करना चाहिए।

देखो न ! प्रत्येक रामभक्त 'जय रामजी' करता हैं या नहीं ? प्रत्येक खुदाभक्त 'खुदाहाफिज' कहता है या नहीं ? प्रत्येक गुरुभक्त 'जयगुरुदेव' कहता है या नहीं ? प्रत्येक हिन्द प्रेमी 'जयहिन्द' कहता है या नहीं ?

जब सर्वत्र ऐसा है तो तुम्हीं सोचो – प्रत्येक जिनेन्द्र भक्त को जयजिनेन्द्र करना चाहिए या नहीं ?"

विज्ञान ने कहा – "यह सब तो ठीक है, पर इस सब में एक तो साम्प्रदायिकता की गंध आती है और दूसरे ये पुरातनपन्थी से लगते हैं, अतः ये अटपटे लगते हैं, तथा 'गुड मॉर्निंग' एक कोमल शब्द है, इससे किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष का सम्बन्ध नहीं है। अतः मुझे तो 'गुड मॉर्निंग' अभिवादन ही अच्छा लगता है।"

ज्ञान ने पुनः समझाने का प्रयत्न किया – "देख भाई ! अच्छा बुरा तो संस्कारों पर निर्भर करता है। तुझे पूरे १५ वर्ष उसी वातावरण में रहते-रहते वैसी ही आदत पड़ गई है और तू भारतीय संस्कृति से अच्छी तरह परिचित भी नहीं है, अतः अच्छे लगने की तो बात अलग है, पर यदि तू तर्क-युक्ति से विचार करेगा तो तुझे स्वयं अपनी कमजोरी का पता चल जायगा।

मैं पूछता हूँ यदि तुझे भारतीय अभिवादनों में साम्प्रदायिक और पुरातन पन्थ की गंध आती है तो क्या गुडमार्निंग में पाश्चात्य संस्कृति व आधुनिक सभ्यता की गंध नहीं है ? और क्या पाश्चात्य संस्कृति में कोई धार्मिक विचारों को स्थान नहीं है ?

अरे भाई ! सभी वर्गों में अपने-अपने धर्म हैं, दर्शन हैं; उनके अपने सिद्धान्त हैं, अपने-अपने इष्टदेव हैं; जिन्हें वे प्रातःस्मरणीय मानते हैं और अभिवादन के रूप में स्मरण भी करते हैं।

क्या हम 'जयजिनेन्द्र' जैसे अपने प्रसिद्ध अभिवादन की उपेक्षा करके दुनिया की दृष्टि में सिद्धान्तविहीन साबित नहीं होंगे ? हमें 'जयजिनेन्द्र' करने में संकोच नहीं होना चाहिए। हमें अपने उपास्य देव को छोड़ अन्य कुछ बोलकर हर एक के सामने गिरगिट की तरह रंग भी नहीं बदलना चाहिए। कोई हम से कुछ भी बोलकर अभिवादन करे, हम तो उसके उत्तर में जयजिनेन्द्र ही कहें।"

विज्ञान ने जानने की जिज्ञासा से कहा – "राम, कृष्ण, आदि तो ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं और हिन्दू संस्कृति में इन्हें ईश्वरीय अवतार भी माना गया है, पर यह जिनेन्द्र कौन हैं ? जिसकी हम जय बोलते हैं, यह मेरी समझ में आज तक नहीं आया।"

ज्ञान ने कहा – "**जिन्होंने मोह-राग-द्वेष और इन्द्रियों के विषयों-पर विजय प्राप्त कर ली है, जो पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हो गये हैं, वे सब आत्माएँ जिनेन्द्र हैं**। जैनधर्म में भी ऋषभदेव से महावीर तक चौबीस तीर्थंकर ऐसे ही जिनेन्द्र हैं जो ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में भी मान्य हैं। उनके स्मरण करने से उनसे प्रेरणा पाकर हम भी उन जैसे बन सकते हैं, इसलिए जैन संस्कृति में 'जयजिनेन्द्र' बोलने की परम्परा है।

विज्ञान ने कहा – "ज्ञान ! तुम्हारा प्रस्तुतीकरण तो बहुत ही बढ़िया है। क्यों नहीं होगा, प्रोफेसर जो ठहरे। पर सबेरे-सबेरे तुम यह क्या राग छेड़ बैठे हो ? जिससे साम्प्रदायिकता पनपे – ऐसी बात ही क्यों करना ?"

ज्ञान ने दृढ़ता से कहा – "नहीं विज्ञान ! धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों से कभी साम्प्रदायिकता नहीं पनपती। फिर यह भारत तो ऐसा बगीचा है, जिसमें विभिन्न धर्म और दर्शनों के रंग-बिरंगे फूल खिलते हैं और सभी अपनी-अपनी पसंद के अनुसार उनकी सौरभ से सुरभित होते हैं।

धर्म और दर्शनों की दृष्टि से भारत में विविधता होते हुए भी भारतीय-राष्ट्रीयता की भावना से सब एक हैं। सभी दार्शनिक एक-दूसरे के धर्म और दर्शनों के बारे में जानना भी चाहते हैं। समय-समय पर होने वाले सर्वधर्म सम्मेलन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। साम्प्रदायिकता भड़कती है स्वार्थी राजनेताओं द्वारा वोट बटोरने के लिए जातिवाद, वर्गवाद, भाषावाद और प्रान्तीयता का विषवमन करने से या फिर धर्मान्धता से, धर्म से नहीं। धर्म तो गेहूं के साथ

घुन की तरह मुफ्त में ही पिसता है, व्यर्थ में ही बदनाम होता है। अतः धर्म में राजनीति को नहीं आने देना चाहिए। राजनीति में धर्म तो रहे, पर धर्म में राजनीति का क्या काम ? पानी में नाव तो रहती है, पर यदि नाव में पानी आ गया तो वह नाव को ले डूबता है। यही स्थिति धर्म की है। यदि धर्म में राजनीति आ गई तो वह धर्म को भी बदनाम कर देती है।

फिर जैनधर्म तो वैसे भी किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं है, जो इसका पालन करता है, वह तो उसी का है। देखो न ! जैनधर्म के प्रतिपादक चौबीसों ही तीर्थंकर जाति से क्षत्रिय थे, इसके विवेचक गौतम गणधर ब्राह्मण थे। उनके आचार्य भी क्षत्रिय और ब्राह्मण कुल के हुए हैं, पर आज इसके उपासक अधिकांश वणिक हैं।"

विज्ञान तुम्हें पता नहीं 'जयजिनेन्द्र' शब्द कितना व्यापक है, कितना पवित्र है और कितना समष्टिगत है ? न केवल आदिनाथ से महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर ही जिनेन्द्र हैं, बल्कि राम, हनुमान भी जिनेन्द्र हैं, इनके अलावा वे असंख्य-अनंत आत्माएँ जिन्होंने मोह-राग-द्वेष-काम-क्रोधादि विकारों पर एवं इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त कर ली है, पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हो गये हैं, वे सभी जिनेन्द्र हैं। जयजिनेन्द्र में उन सब पवित्र परमात्माओं की ही जय बोली जाती है, किसी व्यक्ति विशेष को नहीं।

जैनधर्म की मान्यता के अनुसार "प्रत्येक आत्मा द्रव्यस्वभाव से तो भगवान ही है, अपनी भूल को मिटाकर वह पर्याय में भी परमात्म दशा प्रगट कर सकता है। यह तो विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म है, आत्मा से परमात्मा बनने की कला सिखाने वाला धर्म है। इसका सम्पूर्ण व्यवहार भी अध्यात्म का ही साधक है।"

विज्ञान ने वातावरण की गम्भीरता को तोड़ते हुए कहा – "ज्ञान ! यदि तू एक-एक बात पर ऐसे लेक्चर देगा, तब तो हो गया अपना कल्याण। मैं तो कुछ गपशप लगाने और मनोरंजन करने के मूड में आया था। पर तूने तो मुझे एक अजीब सी उलझन में डाल दिया है। खैर ! छोड़ो अभी इन बातों को" – यह कह कर समस्या को पीछे धकेलते हुए विज्ञान ने पुनः कहा – "हाँ, और क्या हाल-चाल हैं तेरे ! क्या भाभी लाने का विचार नहीं है ? गृहणी के बिना भी

कोई घर घर कहलाता है। माता-पिता कब तक साथ दे पायेंगे। भाभी के आने से उन्हें भी तो कुछ सहारा हो ही जायेगा न।"

उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना विज्ञान ने आगे कहा – "और सुन ! सुदर्शन के क्या हाल-चाल है। वह भी तो बहुत दिनों से नहीं मिला।"

ज्ञान ने कहा – "मेरे और सुदर्शन के काम में मौलिक अन्तर यह है कि मैं तो शिक्षण के क्षेत्र में हूँ, सो इस क्षेत्र में एक तो वैसे भी काफी छुट्टीयाँ होती हैं, फिर कॉलेज के प्रोफेसरों पर प्राथमिक एवं माध्यमिक शालाओं के अध्यापकों की तरह खाली समय में भी विद्यालय में ही उपस्थित रहने का कोई खास प्रतिबंध भी नहीं होता, पढ़ने वाले विद्यार्थी भी कम ही होते हैं; अतः वैसे तो इस क्षेत्र में समय ही समय है, पर काम जिम्मेदारी का है और गंभीर अध्ययन-अध्यापन का है, सो जो व्यक्ति जिम्मेदारी अनुभव करे और काम करना चाहे उसे तो काम ही काम है और जो न करना चाहे उसे कुछ भी काम नहीं है।

सौभाग्य से मेरी तो दर्शन और अध्यात्म में स्वभावतः रुचि है और संयोग से काम भी दर्शनशास्त्र पढ़ाने का ही मिल गया है। इसलिए मेरे लिए तो कॉलेज भी घर जैसा है, घर भी कॉलेज जैसा ही है। एक ही धुन, एक ही काम, एक ही चर्चा-वार्ता। अतः मैं तो पूरा दिन फ्री होकर भी व्यस्त हूँ और व्यस्त होकर भी फ्री हूँ।

पर सुदर्शन एक वकील है; अतः वह कहता है कि मुझे तो मरने की भी फुरसत नहीं है। एक दिन मैंने तो उससे कह दिया कि – "भाई ! ये तो बहुत ही बढ़िया बात है। तू सदा व्यस्त ही रहना, यदि मरने को फुरसत मिल गई तो तेरा सब करा कराया यों ही रखा रह जायेगा।

वह तो संकेत में ही समझ गया। समझदार को इशारा ही काफी होता है न ? तभी से वह दोनों समय स्वाध्याय को और दर्शन-पूजन को तो समय निकालने लगा है, बाकी व्यस्तता तो है ही।"

विज्ञान ने आश्चर्य प्रकट किया – "क्या वह भी तुम जैसा ही पुरातन पंथी बन गया है ? क्या कहा ? दर्शन ! पूजन ! ! स्वाध्याय ! ! ! किस जमाने की बातें कर रहा है ? क्या पूजा-पाठ कोरा ढोंग नहीं है ? क्या पंडिताई कोरा पाखंड नहीं है ?

अरे मित्र ! यह धन्धा बेचारे पण्डितों को ही रहने दो न ! समाज को बेवकूफ बनाने के लिए वे क्या कम पड़ते हैं, जो तुम भी उनके सहयोगी बन गये हो। अरे ! तुम्हें तो उन पण्डितों का भंडाफोड़ करने का काम करना चाहिए था, ताकि समाज उनके चक्कर से बच सके। पढ़े-लिखे प्रोफेसर और वकील होकर भी किन दकियानूसी बातों में पड़ गये हो तुम लोग ?

अरे मानव सेवा करो, मानव सेवा ही सच्चा धर्म है। क्या धरा है इन पत्थरों के पूजने में ? ये पत्थर घिस जाते हैं, पर इन पुजारियों और पण्डितों के पापाचार नहीं घिसते।"

ज्ञान ने विज्ञान के जोश को ठंडा करते हुए कहा – "अरे मित्र ! तुम तो यों ही बहक गये, पहले उससे मिलो तो सही और उसके विचारों से भी परिचित होकर तो देखो, हो सकता है उसके विचार तुमसे मिलते-जुलते हों। जो पण्डित तुम्हें पाखंडी दिखते हैं, जो पुजारी तुम्हें ढोंगी दिखते हैं; हो सकता है, वे पण्डित वास्तव में पाखंडी हों और वे पुजारी भी ढोंगी हों; पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि ज्ञान ही पाखंड हो गया और पूजा-पाठ ही ढोंग हो गये। पूजा-पाठ तो ढोंग नहीं है, ज्ञान तो पाखंड नहीं है ? तो क्यों न हम धर्म का सच्चा ज्ञान अर्जित कर झूठे पाण्डित्य प्रदर्शन का पर्दाफास कर दें ? क्यों न हम सच्चे पुजारी बनकर ढोंगियों के ढोंग को न चलने दें ? पर इसके लिए पहले स्वाध्याय द्वारा स्वयं को सच्चा ज्ञान अर्जित करना होगा न ?

सुदर्शन एक वकील है, कानून का पंडित है। वह जानता है कि जिस तरह कोर्ट में जाने के पहले तत्सम्बन्धी फाइलें और कानून की किताबें पढ़ना जरूरी है, उसी तरह वीतराग धर्म की वकालत करना हो तो तत्सम्बन्धी साहित्य का आद्योपांत अध्ययन करना भी जरूरी है।"

विज्ञान अपने जोश के साथ होश में आता हुआ बोला – "हाँ, तू बिल्कुल ठीक कहता है, चलो मैं भी उससे मिलना चाहता हूँ और जानना चाहता हूँ कि वह कितने गहरे पानी में है ?" यह कहते हुए वे दोनों सुदर्शन के घर की ओर चल दिए। □

२

ठंड का मौसम, उसमें भी माघ का महीना, अतः ठंड तो अपने यौवन पर थी ही, मावठ पड़ने और तेज हवायें चलने से ठंड का प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया था।

पर ऐसा कुछ नहीं था कि काम-काज ही ठप्प हो गया हो। दिन रात चलने वाले कारखाने यथावत चल रहे थे, सड़कों पर दौड़ने वाले छोटे-बड़े वाहन बराबर सड़कों पर दौड़ रहे थे, मजदूर अपनी मजदूरी पर जा चुके थे, बाजार खुले थे, धंधा-व्यापार भी बराबर चल रहा था।

स्कूल कॉलेज भी खुले थे और लगभग सब छोटे-बड़े बालक अपनी-अपनी पुस्तकें बगल में दबाये शालाओं में पहुँच रहे थे।

पर आदर्श विद्यालय के अधिकांश क्लास रूम खाली पड़े थे। विद्यार्थी न आये हों, यह बात नहीं थी, पर कक्षा में अध्यापक के आये बिना वे बालक वहाँ बैठे-बैठे करते भी क्या। अतः कुछ पुस्तकालय में चले गये थे, कुछ टी-स्टाल में जा बैठे थे और कुछ खेल के मैदान में इधर-उधर घूम-फिर रहे थे तथा कुछ क्लास रूम के आस-पास खड़े-खड़े अध्यापकों के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

प्राचार्य महोदय अपने प्राचार्य कक्ष में बैठे-बैठे न्यूज पेपर पढ़ने में व्यस्त थे। दो-चार अध्यापकों को छोड़कर शेष सभी अध्यापक शिक्षककक्ष में हीटर जलाये चुनावी चर्चा का आनन्द ले रहे थे।

× × ×

ज्यों ही प्रो. ज्ञान ने दर्शन शास्त्र का प्रथम पीरियड पढ़ाने के बाद शिक्षककक्ष में प्रवेश किया तो उसे शिक्षककक्ष में आया देख उसके ही साथ नियुक्त हुए एक नये साइंस के शिक्षक ने धीरे से लोगों की निगाहें बचाकर पंखा चला दिया।

वहीं बैठे हिन्दी साहित्य के सीनियर शिक्षक ने विस्मय भाव से पूछा – "अरे ! इतनी सर्दी में यह पंखा किसने चलाया है ?"

तीसरे एक अधेड़ उम्र के कॉमर्स के शिक्षक ने व्यंग करते हुए कहा – "बेचारा प्रो. ज्ञान पढ़ा-पढ़ा कर पसीना-पसीना हो गया है

न ? और पढ़ाते-पढ़ाते उसका दिमाग भी तो गरम हो गया होगा न ? बस, इसी कारण उस पर तरस खाकर किसी दीनदयाल ने चला दिया होगा ।"

चौथे अंग्रेजी के शिक्षक ने कहा – "अच्छा, तो यह बात है ! मैं समझा नहीं था कि यहाँ भी ऐसे दीनदयाल हैं ।"

पाँचवें अध्यापक ने चौथे को निशाना बनाकर कटाक्ष किया – "तुम समझोगे भी कहाँ से ? पुरानी पीढ़ी के थर्ड क्लास अध्यापक जो ठहरे । तुम में अक्ल ही कितनी है ।"

उनमें से एक पुराने अध्यापक को ज्ञान के प्रति किया गया नये अध्यापकों का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा, अतः उसने कहा – "अरे भाई ! ये व्यर्थ की बातें बन्द भी करो न ! इस तरह एक भले आदमी का मजाक उड़ाना तुम्हें शोभा नहीं देता ।

विषय बदलने की भावना से उसने प्रो. ज्ञान से प्रश्न वाचक मुद्रा में पूछा – "क्यों ज्ञान ! तुम्हारे उस ज्ञापन का क्या हुआ, जिसमें तुमने वर्तमान शिक्षा नीति और गिरते हुए शिक्षा स्तर के बारे में शासन का ध्यान आकर्षित करने की योजना बनाई थी ?

प्रो. ज्ञान ने सब की सब बातों को शान्ति से सुन लिया, पर किसी पर भी कोई प्रतिक्रिया प्रगट नहीं की । चेहरे पर भी कोई घृणा या क्षोभ का भाव नहीं आने दिया; क्योंकि ज्ञान के लिए यह सब चर्चा-वार्ता कोई नई बात नहीं थी । उसे तो आये दिन किसी न किसी बात को लेकर इसी तरह व्यंग-बाणों का निशाना बनना ही पड़ता था; क्योंकि उसकी कर्तव्यनिष्ठा उसके नये साथियों को पसंद नहीं थी, 'पर खटमलों के कारण खाट और बिस्तर थोड़े ही फेंक दिया जाता है और मच्छरों की वजह से मकान थोड़े ही छोड़ दिया जाता है ।' यह सोचकर वह अपने कर्त्तव्य को बराबर नियमित रूप से करता रहा ।

बस उस बेचारे का अपराध ही केवल यह था कि वह अपने कर्तव्य के प्रति इतना जागरूक क्यों है ? वह उनके कदम से कदम मिलाकर क्यों नहीं चलता ? जैसा वे सब करते हैं, वही सब वह क्यों नहीं करता ? जब वे सब हीटर से हाथ सेंक रहे थे, तब उसने कक्षा क्यों ली ? वह सबका साथ छोड़कर अकेला ही अधिकारियों और विद्यार्थियों का चहेता क्यों बनना चाहता है ?

ज्ञान की टीका-टिप्पणी करते हुए अध्यापक आपस में बातें कर रहे थे।

एक शिक्षक ने कहा – "उसका क्या ? न कोई आगे, न कोई पीछे और न स्वयं को भी कोई शौक, इस कारण उसका खर्च ही क्या है ? पर हम तो बाल-बच्चों वाले हैं न ? अतः हमें तो ट्यूशनें भी चाहिए न ? यदि यहीं पर सब कुछ पढ़ा देंगे तो हमारे पास ट्यूशन से पढ़ने कौन आयेगा ? कभी-कभी तो पीरियड छोड़ने का बहाना मिलता है, सो उसे भी……… । ये हजरत न कभी स्वयं चैन से बैठेंगे न दूसरों को बैठने देंगे।"

दूसरे ने कहा – "इसके घर में कोई मन लगने-लगाने के साधन तो हैं नहीं, इस कारण समय से भी दस-बीस मिनट पहले यहाँ आ जाना और जब तक पूरा विद्यालय बंद न हो जाय तब तक विद्यालय में जमें रहना तथा प्रत्येक पीरियड को पूरे समय तक घसीटना तो इसका स्वभावसा बन गया है। सो इसकी तो ये जानें; पर इसके कारण आजू-बाजू की कक्षाओं के शिक्षकों को भी पूरा पीरियड लेना पड़ता है। वे बेचारे कभी पांच-दस मिनट पहले भी पीरियड नहीं छोड़ पाते।

तीसरे ने कहा – हाँ यार ! इसके इस आदर्शवाद ने हम लोगों को तो तंग कर ही रखा है, इससे प्राचार्य भी परेशान रहते हैं। यह उन्हें भी समय-समय पर कर्तव्य का पाठ पढ़ाये बिना नहीं मानता। वे नये-नये आये हैं न ? और इसकी पहुँच ऊपर तक है, बस इसी से इसका दिमाग खराब हो रहा है और यह उनका प्रिय भी बनना चाहता है…. ठीक है, हम भी देख लेंगे, वह अपने आपको समझता क्या है ? हम भी ऊपर तक पहुँचना जानते हैं।

जब अध्यापकों की व्यंगोक्तियों और ईर्ष्याभरी वार्ता सुनते-सुनते बहुत देर हो गई तो उन्हीं में से एक गंभीर प्रकृति के अध्यापक ने ज्ञान के पक्ष में बोलते हुए कहा – "देखो भाई ! तुम कुछ भी कहो पर वह आदमी ईमानदार है, परिश्रमी है, भला भी है, और वह जो भी करता है, ठीक ही तो करता है।

तुम अपने हृदय पर हाथ रखकर स्वयं अपनी आत्मा से पूछो तो तुम्हारी अंतरात्मा भी यही कहेगी कि वह जो भी करता है। सब ठीक ही करता। तुम्हीं बताओ वह बुरा क्या करता है।

तुम लोग उसे इतना सताते हो, अपमानित भी करते हो, तब भी वह बेचारा तुम्हारे विरुद्ध कभी-कहीं मुँह नहीं खोलता। उसने आज तक न कभी अपनी बचपन की मित्रता का लाभ उठाया और न अपने पिता के प्रभाव का ही उपयोग किया। यदि कोई और होता तो····

चौथे ने कहा – "बात तो तुम ठीक कहते हो, परन्तु··········।

"परन्तु क्या ?" पहले शिक्षक ने कहा।

पुराने शिक्षक ने आँख बदलते हुए उत्तर दिया – "यह किन्तु परन्तु लगाकर मैं किसी को इस तरह बिना कारण सताना सहन नहीं कर सकता।

मैं उस सीधे-सादे सज्जन व्यक्ति की सज्जनता को इस तरह अपमानित नहीं होने दूँगा। तुम्हें पता होना चाहिए कि वह मेरा शिष्य भी रहा है।"

वातावरण का रुख बदला देख शेष लोगों की आगे कुछ बोलने की हिम्मत तो नहीं हुई, पर मुँह टेड़ाकर उपेक्षाभाव प्रदर्शित करते हुए थोड़ी देर के लिए सबने चुप्पी साध ली।

वातावरण की गम्भीरता को पुन: भंग करते हुए बात बदलकर एक ने दूसरे से आपस में कहा – "मित्र ! तुम्हारी कल की भांग ने तो ऐसा रंग जमाया कि मैं २४ घंटे में मुश्किल से यहाँ आने लायक हो पाया हूँ। उसके नशे से कल का पूरा दिन तो बेकार हो ही गया, आज भी कुछ काम करने जैसी स्थिति नहीं हैं। लिखने में हाथ काँपते हैं और चलने में पैर। बड़ा बुरा नशा होता है भांग का, तुम्हें मुझसे ऐसी मजाक करना ठीक नहीं है। तुम्हें मालूम है कि मैं कभी भांग नहीं पीता, फिर तुमने बिना बताये ठंडाई के नाम पर भंग क्यों पिलाई ?

एक अन्य शिक्षक बोला – "तो क्या हुआ ? कोई रोज-रोज थोड़े ही घुटती है और उसमें नहीं पीने जैसी बात ही क्या है ? अरे ! यह तो भगवान शंकर की प्रिय बूटी है शंकर की ! समझे ? यदि पियोगे ही नहीं तो पीना सीखोगे कैसे ?

तीसरे ने सिगरेट सुलगाकर कश लगाते हुए बहस को बंद करने की नियत से कहा – "यह सब तो जो हुआ सो हो गया। अब इस पर बहस करने से क्या लाभ ? अब तो यह बताओ कि अगले रविवार का क्या कार्यक्रम है ?"

चौथे ने व्यंग में कहा – "अरे भाई ! क्या तुम्हें इतना भी होश नहीं है ? अभी-अभी तुमने सांस्कृतिक कार्यक्रम के संयोजक प्रो० ज्ञान साहब की यह सूचना नहीं पढ़ी कि – "अगले रविवार को सांस्कृतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत भाषण, निबन्ध एवं खेल-कूद प्रतियोगितायें हैं, उनमें सभी की उपस्थिति प्रार्थनीय है ।"

पाँचवें ने सूचना के शब्दों में से "बाल की खाल निकालते हुए कहा – "प्रार्थनीय ही तो है, अनिवार्य तो नहीं ।"

"हाँ, है तो प्रार्थनीय ही" एक अन्य ने कहा ।

"बस तो फिर क्या है, बना देंगे कोई बहाना । तुम तो यह बताओ कि तुम्हारा कार्यक्रम क्या है ?

बातों-बातों में दूसरा पीरियड भी पूरा हो गया, पर अध्यापकों की बातें पूरी नहीं हो पाईं । विद्यार्थी भी आखिर कब तक प्रतीक्षा करते । वे भी एक-एक करके वहाँ से खिसकने लगे ।

किन्हीं ने १२ से ३ वाले शो में सिनेमा जाने का कार्यक्रम बना लिया । कुछ इधर-उधर हो गए और कुछ अपने-अपने घर चले गये ।

× × ×

जो माता-पिता बालकों की पढ़ाई के प्रति जागरूक थे, जिम्मेदारी अनुभव करते थे, उनमें से एक ने पूछा – "क्यों राजू ? आज तुम विद्यालय से इतने जल्दी वापस कैसे आ गये ?

राजू एक क्षण तो चुप रहा, फिर प्राचार्य के प्रति अपने असंतोष को प्रकट करते हुए बोला - "आज हमारे प्राचार्य महोदय की कन्डोलेन्स मीटिंग (शोक सभा) के कारण छुट्टी हो गई है ।"

राजू के पिता प्राचार्य से पहले से परिचित थे, अतः उन्होंने गंभीर होकर पश्चाताप प्रगट करते हुए कहा – "अरे ! यह तो बहुत बुरा हुआ । बेचारे बहुत भले आदमी थे ।

राजू तीखे स्वर में बोला – "क्या कहा पापा ! यह प्राचार्य और भला आदमी ! अरे ! एकदम बेकार, किसने बना दिया इसे प्रिंसिपल ?" और तुम क्या कहते हो बहुत बुरा हुआ ? यदि ऐसा बुरा असली में एक बार हो जाता तो कहीं अधिक अच्छा होता । हम लोगों को उनके पुतले जला-जलाकर बार-बार नकली कन्डोलेंस तो न करनी पड़ती । उनके नाम पर बार-बार रोने से तो बच जाते ।"

"राजू ! तू यह क्या बकता है ? क्या ! तुम लोगों ने प्रिन्सिपल का पुतला जलाया है ? यह तो तुम लोगों ने अच्छा नहीं किया ।"

"अरे पापा ! मैंने कुछ नहीं किया । मैं करता भी कैसे ? आपका बेटा जो ठहरा । पर आप किस-किस को रोक लेंगे ? जब वे स्वयं जिन्दा रहकर भी मरे से बुरे सिद्ध हो रहे हैं । कोई कुछ भी कहे, उनकी कान पर जूँ तक नहीं रेंगती । उन्हें तो न्यूज पेपर पढ़ने से ही फुरसत नहीं मिलती ।

कौन पोरियड ले रहा है, कौन नहीं ले रहा है, कौन अब आया, कब चला गया, कुछ देखते ही नहीं । देख भी लेते हैं तो कुछ कहते नहीं हैं ।

वे ऑफिस में बैठे-बैठे अखबार पढ़ते रहते और अध्यापक लोग स्टाफ रूम में गप्पे लगाते रहते । विद्यार्थियों को तो छुट्टी से स्वभाव से ही प्रेम होता है कोई बहाना मिला नहीं कि एक-एक कर खिसकने लगते हैं । दस-पांच जो पढ़ने के प्रति सीरीयस होते हैं, वे "सर" से पढ़ाने को कहते, तो उनसे यह पूछा जाता, कितने लड़के हैं क्लास रूम में ?

उत्तर मिलता – "दस-बारह"

सर कहते – "बस, दस बारह ही ! बाकी कहाँ गये ?"

छात्र कहता – "सर ! यहाँ-वहाँ घूम-फिर रहे होंगे, आप क्लास में पहुँचेंगे तो आपको देखकर शायद और दस-पांच आ जावें ।"

सर का उत्तर होता – "अच्छा—ऐसा करो, कल सबको रोककर रखना, ठीक है न ?"

बस, आये दिन यही होता है । वे दस-पांच छात्र भी निराश हो मुंह लटकाये चल देते ।

यदि शिक्षकों को बार-बार बुलाने जाते तो लड़के अलग झगड़ते और शिक्षक अलग झिड़कते । बहुत हुआ तो कह देते, चलो ! बैठो क्लास में । अभी आते हैं । पर उनकी वह 'अभी' कभी नहीं होती । आखिर कोई कब तक इन्तजार करे रोज-रोज ? धीरे-धीरे लड़के उनकी 'अभी' का अर्थ समझने लगे थे, अतः 'अभी' शब्द सुनते ही सब घर को चल देते ।

मैंने भी सोचा – "चलो घर ही चलें, वहीं कुछ पढ़ेंगे लिखेंगे ।"

राजू के पिता को राजू की दर्द भरी कहानी सुनकर दु:ख तो हुआ पर फिर भी उन्होंने कहा – "बेटा। कुछ भी हो, परन्तु तुम्हें अपने गुरुजनों के बारे में ऐसा नहीं सोचना चाहिए। वे तुम्हारे गुरु हैं, अतः आदरणीय हैं, क्या तुमने एकलव्य की कहानी नहीं पढ़ी ? क्या तुमने महाभारत में गुरु द्रोण और अर्जुन आदि का परस्पर व्यवहार नहीं देखा ?

भविष्य में कभी ऐसी भूल नहीं करना तथा जो लड़के ऐसा कोई भी काम करें, उनका साथ नहीं देना। समझे !"

"समझ गया, पापा ! अच्छी तरह समझ गया। क्यों पापा ! क्या यहाँ इससे अच्छा और कोई विद्यालय नहीं है ?"

"हाँ, एक ईसाई मिशन का विद्यालय है, जहाँ पढ़ाई एक दम बढ़िया होती है, पर"

"पर क्या ?" – राजू ने जिज्ञासा प्रगट की।

"कुछ नहीं, सोचूंगा, इस विषय में क्या हो सकता है।" पापा ने कहा।

× × ×

जब प्राचार्य महोदय का अखबार के पूरे पृष्ठों का आद्योपांत स्वाध्याय हो चुका तो एक घंटे बाद रुआब के साथ ऑफिस से बाहर निकले। देखते क्या हैं कि पन्द्रह सौ विद्यार्थियों में केवल दो-सवा दो सौ विद्यार्थी ही चार कक्षाओं में पढ़ते दिखाई दे रहे हैं। शेष सभी सोलह कक्षाएँ खाली पड़ी थी।

कक्षाओं को खाली देखकर पहले तो उन्हें जरा-सा जोश आया, पर शिक्षककक्ष तक पहुँचते-पहुँचते उनका वह जोश भी ठंडा हो गया।

फिर क्या था, बड़े ही विनम्र स्वर में बन्धुत्वभाव व्यक्त करते हुए बोले – "क्यों बन्धुओ ! क्या हो रहा है ?

अध्यापकों में अधिकांश तो अपने अपराध बोध के कारण नीची गर्दन करके चुप रहे, पर एक चालाक प्रकृति के मुंहबोले अध्यापक ने साहस बटोरकर बहाना बनाते हुए कहा – "सर ! क्या है कि ठंड अधिक पड़ रही है न ? इस कारण अधिकांश लड़के तो आये ही नहीं थे। हाँ, जो थोड़े से आये थे, वे भी दाँत किटकिटा रहे थे। दो-चार ने

पीरियड लेने को भी कहा, पर आप ही सोचिए न ! भला ऐसी ठंड में यदि दस-पन्द्रह लड़कों को पढ़ाने बैठ भी जावें तो जो नहीं आये वे पिछड़ जाते न ? इसलिए हम लोगों ने सोचा – जब पूरी उपस्थिति होगी तभी पढ़ाना ठीक रहेगा !"

दूसरे ने कहा – "सर ! लगभग यही स्थिति सब कक्षाओं की थी । हाँ में हाँ भराने के लिए दूसरे शिक्षकों की ओर मुँह करके कहा – "क्यों थी न ?"

समवेत स्वर में अनेक ने कहा – "हाँ, देखो न ! कितनी ठंड है ? हाथ भी बाहर नहीं निकाले जाते । भला ऐसे में………………।

"हाँ, सो तो है ही" – प्राचार्य ने भी हाँ में हाँ मिला दी ।

वे भी सबके साथ बैठकर अपने अखबारी ज्ञान का प्रदर्शन करते हुए राजनीति की चर्चा करने लगे ।

× × ×

शिक्षा संस्थान की गिरती हुई स्थिति और धूमिल होती हुई छवि की जानकारी जब भी किसी नागरिक द्वारा व्यवस्थापिका समिति को दी जाती तो वे उसे संस्था या शिक्षणों के प्रति राग-द्वेष का परिणाम मानकर टाल जाते थे ।

इस विषय में उनका सोचना था कि – "काम करने वालों को भलाई-बुराई तो झेलनी ही पड़ती है ।"

प्राचार्य भी अपने बचाव के लिए ऐसा ही कुछ स्पष्टीकरण दे दिया करते थे ।

पर जब शिकायतें सुनते-सुनते व्यवस्थापिका समिति के कान पक गये और पानी सिर से ऊपर पहुँच गया तो समिति ने सक्रिय होकर एक जांच कमेटी की नियुक्ति कर दी ।

फिर जाँच कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार समिति द्वारा प्राचार्य और प्राध्यापकों को यह नोटिस दिए गये कि "यदि छह माह के अन्दर स्थिति में सुधार नहीं हुआ तो पूरे विद्यालय परिवार पर कठोर कार्यवाही की जायेगी ।

तथा जिन मूल उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शिक्षा संस्थान स्थापित किया गया है, यदि उनमें किंचित् भी उदासीनता बरती जायेगी तो सम्बन्धित व्यक्ति को तो बिना नोटिस दिए ही तत्काल प्रभाव से तुरन्त

सर्विस समाप्त कर दी जायेगी। और यदि आवश्यक समझा गया तो विद्यालय भी बन्द किया जा सकता है और उससे हुई क्षति की जिम्मेदारी संस्था की नहीं होगी।

इसके सिवाय व्यवस्थापिका समिति ने प्रो. ज्ञान की संस्था के प्रति समर्पण की भावना, कर्तव्यनिष्ठा और छात्रों के प्रति हित की भावना देखकर उसे उपप्राचार्य पद पर पदोन्नत कर दिया।

जिन अध्यापकों को जाँच समिति द्वारा दोषी ठहराया गया था, उनकी तीन-तीन वर्ष तक के लिए वेतन वृद्धि रोक दी गई।

अध्यापकों को सुधरने का अवसर प्रदान करने हेतु एक विशेष आदेश यह भी दिया गया कि यदि उन्होंने एक वर्ष के अन्दर अपने चरित्र को सुधार कर स्वयं को शिक्षण में सक्षम और योग्य सिद्ध कर दिखाया तो उन्हें तीन-तीन अतिरिक्त वेतन वृद्धियाँ देकर प्रोत्साहित किया जायेगा।

× × ×

"काश ! ज्ञान जैसे समर्पित और ईमानदार व्यक्ति इस संस्था को मिलते रहें तो अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। एक न एक दिन यह संस्था अवश्य ही अपने उद्देश्यों में सफल होगी।"

अन्त में प्रो. ज्ञान की प्रशंसा में इस आशय का एक प्रस्ताव पास कर श्रेष्ठ कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित करने का अभिनन्दनीय कार्य भी व्यवस्थापिका समिति ने किया। □

२

यह वही शिक्षाकेन्द्र है, जो ईसाई मिशन के लोकप्रिय शिक्षा-संस्थान के समानान्तर भारतीय संस्कृति व सभ्यता की सुरक्षा हेतु, आध्यात्मिक विचार और अहिंसक आचरण के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने हेतु, नैतिकता और सदाचार के संस्कार डालने हेतु एवं पश्चिमी संस्कारों व दुर्व्यसनों से दूर रखने के उद्देश्य से विज्ञान के पिता द्वारा दो दशकपूर्व स्थापित किया गया था।

इन्हीं उद्देश्यों से प्रभावित होकर नगर के श्रीमंतों ने भी लाखों रुपयों का योगदान इस संस्थान को दिया था। उसी के फलस्वरूप धीरे-धीरे यह संस्थान वट-वृक्ष की तरह बढ़ा और नगर में ही नहीं, पूरे प्रदेश के सबसे बड़े और श्रेष्ठ शिक्षा-संस्थान के रूप में पहचाना जाने लगा।

प्रारम्भ में एक दशक तक, जबतक मूल संस्थापक सेठ लक्ष्मीकांत और उनके सहयोगी श्री अरहंत जैन रहे तबतक तो यह संस्थान अपने उद्देश्यों के प्रति जागरूक रहा; पर संस्थापक और सहयोगी श्री अरहंत जैन के दिवंगत होते ही गत कुछ वर्षों से इसकी छवि धूमिल होते-होते स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि अब उसका नाम सुनते ही आँखें नीचे झुक जाती हैं।

× × ×

इस शिक्षाकेन्द्र के अन्तर्गत पहली कक्षा से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक कला, विज्ञान, एवं वाणिज्य आदि सभी प्रमुख विषयों के पठन-पाठन की व्यवस्था है।

वैसे शासन तो आवश्यकतानुसार स्वयं छोटी-छोटी जगहों पर भी अपने शिक्षाकेन्द्र स्थापित करता है, सो वह तो जिला-स्तर का नगर था, अत: वहाँ भी शासकीय शिक्षा की आद्योपान्त व्यवस्था थी, फिर भी शासन ने निजी शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना को

प्रोत्साहित कर रखा था और भरपूर अनुदान भी दे रहा था; क्योंकि शासन से भी यह बात छिपी नहीं है कि शासकीय शिक्षाकेन्द्रों की तुलना में निजी शिक्षा-संस्थान बेहतर सेवायें करते हैं, अच्छा रिजल्ट देते हैं। पर गत कुछ समय से इस शिक्षाकेन्द्र की छवि धूमिल हो रही थी। इस शिक्षा संस्थान की छवि धूमिल होने में छात्रों से कहीं अधिक हाथ आचार्य एवं अध्यापकों की अक्षमता, अयोग्यता एवं उनकी आर्थिक कमजोरी का था, साथ ही व्यवस्थापिका समिति का नियुक्तियों के समय अनावश्यक हस्तक्षेप एवं देख-रेख में लापरवाही और राजनेताओं की स्वार्थपरक नीति का था।

× × ×

श्री अरहंत जैन इसी नगर के शासकीय शिक्षा-संस्थान की माध्यमिक शाला के निवर्तमान प्रधानाध्यापक थे। यद्यपि उन्हें अपने जमाने का एक सफल प्रधानाध्यापक कहा जा सकता था; क्योंकि उन्होंने अपने परिश्रम, प्रतिभा और नैतिकता के बल पर छात्रों में तो एक अच्छे प्रधानाध्यापक की पहचान बना ही ली थी, जनता मे भी जनप्रिय हो गये थे। पर सहायक अध्यापकों से अपेक्षित सहयोग न मिल पाने के कारण उनके कठिन परिश्रम का पूरा लाभ छात्रों को नहीं मिल पाता था। इस कारण उन्हें मन में असंतोष भी बना रहता था, परन्तु परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी बन गई थी कि वे सम्पूर्ण समर्पण के बाद भी कुछ कर नहीं पा रहे थे।

जब भी वे अपने अधीनस्थ अध्यापकों पर कुछ कठोर अनुशासनात्मक कार्यवाही करते तो अध्यापकगण लापरवाही से प्रतिक्रिया प्रगट करते हुए यह कहकर उनका सामना करने को तैयार हो जाते कि "बहुत करेगा तो तबादला ही तो करा सकता है, कोई जान थोड़े ही ले लेगा।"

"बात भी सच थी। तबादला कराने के सिवाय वे बेचारे उन अकर्मण्य अध्यापकों का कर भी क्या सकते थे? जिसके भय से कुछ सुधार की संभावना हो। और तबादले से भी क्या होने वाला है? साँपनाथ जायेंगे तो नागनाथ आयेंगे। उन्हें क्या फर्क पड़ने वाला था? अतः वे हताश होकर बैठ गये थे और अपना समय पास कर रहे थे। उनकी सेवानिवृत्ति के भी केवल दो वर्ष ही शेष बचे थे, अतः उन्होंने शेष समय को शान्ति से निकालने का मानस

बना लिया था तथा उन्होंने अपने बेटे प्रो० ज्ञान को भी यही सलाह दी थी कि – "अब शिक्षा जैसा पवित्र कार्य करना भी अपने बूते की बात नहीं रही। अतः यदि चाहो तो कोई अन्य कार्य चुन लो।"

× × ×

प्रो. ज्ञान ने इसी शासकीय शिक्षालय में आद्योपान्त शिक्षण प्राप्त किया था। और सौभाग्य से पहली कक्षा से एम.ए. तक सभी कक्षाओं में प्रथम श्रेणी में सफलता प्राप्त की थी। इस कारण शिक्षा समाप्त होते ही वह नव स्थापित आदर्श शिक्षा-संस्थान के महाविद्यालय के दर्शन विभाग का प्राध्यापक बन गया था। वह धीरे-धीरे संस्थान की सभी अच्छाइयों-बुराइयों से भली-भाँति परिचित हो चुका था।

यद्यपि उसका मित्र विज्ञान अपने पिता सेठ लक्ष्मीकान्त की मृत्यु के बाद इस संस्थान का संस्थापक अध्यक्ष बन गया था। अतः यदि ज्ञान चाहता तो विज्ञान से कहकर एक-एक अध्यापकों की असलियत का भंडाफोड़ करके उन्हें मनचाहा दण्ड दिला सकता था; पर वह इस बारे में विज्ञान की पुरानी मित्रता का लाभ नहीं उठाना चाहता था, इस कारण चुप रहता था।

पर, विद्यार्थी अवस्था में उसने "वर्तमान शिक्षा-पद्धति के गुण-दोष एवं वर्तमान शिक्षा नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता" जैसे विषयों पर हुई भाषण एवं निबन्ध प्रतियोगिताओं में भाग लिया था। इसकारण उसका इस विषय पर गहन चिन्तन था और पतनोन्मुख संस्थान को पुनः प्रगतिशील बनाने की योजना भी उसके दिमाग में थी; पर अभी वह उस अवसर की तलाश में था, जब उसे कुछ कर दिखाने का अवसर मिले, अधिकार मिले। **वह ऐसे घोड़े पर भी बैठना पसंद नहीं करता था, जिसकी लगाम दूसरों के हाथ में हो।**

उसने पिताजी के परामर्श के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र से पलायन करने के बजाय पिताजी के अधूरे संकल्पों को पूरा करने की प्रतिज्ञा के साथ पिताजी को तो आश्वस्त किया ही, उस दिशा में तत्काल सक्रिय भी हो गया।

उप प्राचार्य पद पर पहुँचने के बाद और अपनी योग्यता से व्यवस्थापिका समिति की नजरों में चढ़ने के उपरान्त प्रो. ज्ञान ने

शिक्षा मंत्री से लेकर शिक्षा शास्त्रियों तक सभी को एक ज्ञापन लिखकर भेजा, जिसमें उसने लिखा कि – "आज के होनहार बालक ही तो कल के भारत के भाग्य विधाता, राष्ट्र के नायक और देश के भावी कर्णधार हैं। इन हरे बांस की भाँति मनचाहे मुड़ने योग्य, कोमलमति नन्हें-मुन्ने बालकों के चरित्र निर्माता, उनमें नैतिकता के बीज बोने वाले गुरुजन कैसे होने चाहिए। वर्तमान संदर्भ में यह बात गम्भीरता से विचारणीय है।

वर्तमान में प्राथमिक शालाओं के अधिकांश अध्यापक बहुत साधारण योग्यता के होते हैं। न उनका कोई अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व, न उनमें कोई प्रतिभा। वस्तुतः उनमें से अधिकांश में तो गुरु बनने जैसा गौरव ही नहीं होता।

उन्हें न्यूनतम योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ दे दी जातीं हैं। यही एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें सबसे कम भीड़ है। जब कहीं काम नहीं मिलता तो लोग यहाँ आते हैं।

आप स्वयं ही सोचें कि वे छटे-छटाये लोग कैसे होते होंगे ? क्या इन्हें उन कोमलमति बालकों के गुरुत्व का गुरुतर भार सौंपा जा सकता है ? पर, सौंप दिया जाता है।

सौंपने के बाद यह देखने की फुरसत भी किसी को नहीं मिलती कि उन बालकों के बहुमूल्य जीवन के साथ क्या/कैसा खिलवाड़ हो रहा है ?

उन अध्यापकों में भी अधिकांश को अपने साइडबिजनेस और गाँवों में पंचों-सरपंचों के आगे-पीछे फिरने के कारण बालकों को पढ़ाने का समय ही नहीं मिलता। वे साइडबिजनेस न करें तो उनका खर्च कैसे चलेगा ? सरपंचों की खुशामद न करें तो नौकरी सुरक्षित कैसे रह सकेगी ? उन्हें पढ़ाने-लिखाने में उत्साह भी नहीं होता; क्योंकि उनमें न वैसी योग्यता है और न वैसी रुचि।

× × ×

जिनका वेतन बैंक के चपरासियों से भी कम हो, उन पदों पर कोई खास मजबूरी के बिना प्रतिभाशाली बुद्धिमान व्यक्ति क्यों आयेगा ? जबकि शिक्षण के क्षेत्र में सर्वाधिक बुद्धिमान और प्रतिभावान व्यक्ति आना चाहिए; क्योंकि अध्यापक न केवल अक्षर

ज्ञान देने वाला एक सामान्य व्यक्ति होता है, बल्कि वह बालकों के चतुर्मुखी व्यक्तित्व का विकास करनेवाला एवं उनके चरित्र का निर्माता भी होता है।

यदि एक इन्जीनियर भूल करेगा तो कोई बड़ा अनर्थ होने वाला नहीं है, उसकी भूल से कुछ मकान, पुल या बांध ही ढहेंगे, एक डॉक्टर भूल करेगा तो भी कोई बड़ी हानि नहीं होगी, केवल थोड़े से बीमार ही परेशान होंगे, एक मैनेजर भूल करेगा तो कोई कल-कारखाना या मिल ही घाटे में जायेगा और कोई सी०ए० भूल करेगा तो थोड़ा-बहुत हिसाब ही गड़बड़ायेगा; परन्तु यदि अध्यापक भूल करेगा तो पूरे राष्ट्र का ढाँचा ही चरमरा जायेगा; क्योंकि अध्यापक भारत के भावी भाग्य विधाताओं के चरित्र का निर्माता है, कोमलमति बालकों में नैतिकता के बीज बोनेवाला और अहिंसक आचरण तथा सदाचार के संस्कार देनेवाला उनका गुरु है। अतः उसे केवल प्रतिभाशाली बल्कि सदाचारी और नैतिक भी होना चाहिए।

गुरु जैसे गरिमामयी पद पर सामान्य व्यक्तियों को नहीं चुना जाना चाहिए। डॉक्टरों और इन्जीनियरों से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान अध्यापकों को मिलना चाहिए और इस क्षेत्र में उनसे भी कहीं अधिक प्रतिभाशाली और बुद्धिमान व्यक्तियों का चयन होना चाहिए; क्योंकि यहाँ भौतिक वस्तुओं के बिगड़ने-सुधरने की बात नहीं है, यहाँ तो चेतन-आत्माओं को संस्कारित करने का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

एतदर्थ डॉक्टरों, इंजीनियरों जैसी ही सब सुविधायें और आकर्षक वेतनमान अध्यापक को भी आवश्यक है, अन्यथा अच्छे प्रतिभाशाली लोग इस क्षेत्र में नहीं आयेंगे। कम से कम प्रथम श्रेणी से नीचे स्तर के व्यक्ति को तो अध्यापक होना ही नहीं चाहिए।

पर पता नहीं शासन क्या सोचता है? वह शिक्षा के इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में सबसे निम्न स्तर के लोगों को क्यों ले लेता है? जो अन्य किसी काम के योग्य नहीं माने जाते। न जाने उन्हें छोटे-छोटे बालकों को अध्यापन के योग्य क्यों मान लिया जाता है? जबकि इन्हें तो अत्यन्त कुशल, मनोवैज्ञानिक, मननशील और जागरूक अध्यापकों की आवश्यकता है।"

प्रस्तुत ज्ञापन द्वारा ज्ञान ने बड़ी विनम्रता से दृढ़ संकल्प के साथ शासन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया।

यदि शिक्षा विभाग ने ज्ञान के इस ज्ञापन पर ध्यान दिया तो निश्चित ही शिक्षण-संस्थाओं का कायाकल्प हो सकता है।

× × ×

जो भी संगठन, संस्था या व्यक्ति अपने पसीने की कमाई से प्राप्त धन का सदुपयोग करके शिक्षाकेन्द्र स्थापित करता है, वह उसके माध्यम से कोई ऐसा लोक-कल्याणकारी कार्य करना चाहता है, जिससे आगामी पीढ़ी का लौकिक और पारलौकिक जीवन सुखी हो।

यदि उसका यह प्रयोजन पूरा न हो तो केवल अर्थकारी लौकिक शिक्षा के लिए वह इतना भारी खर्च वहन क्यों करे ? और इतनी भारी व्यवस्था का भार भी अपने ऊपर क्यों ले ? वह काम तो शासन स्वयं ही करता है और शासन उसके लिए प्रतिबद्ध भी है।

निजी संस्थाओं की रीति-नीति और उद्देश्यों से शासन न तो कभी अनभिज्ञ ही रहा है और न भ्रमित ही। फिर भी शासन अधिकतम निजी शिक्षाकेन्द्रों की स्थापना और संचालन को प्रोत्साहित करता है। न केवल प्रोत्साहित करता है, बल्कि उन्हें अधिकतम अनुदान भी देता है।

इससे स्पष्ट है कि शासन न तो नैतिक शिक्षा, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का विरोधी है और न अहिंसक आचरण एवं आध्यात्मिक विचारों का।

यदि कोई शिक्षा-संस्था लौकिक पढ़ाई के साथ छात्रों में सदाचार के संस्कार डालने का महान कार्य करती है, उनमें भारतीय संस्कृति और सभ्यता का बीजारोपण करती है, उन्हें नैतिकता का पाठ पढ़ाती है, भगवान महावीर जैसे परम पुरुष के द्वारा निरूपित अहिंसा और अपरिग्रह के संदेश द्वारा देश में शान्ति और समाजवाद लाने का वातावरण बनाती है, तो वह राष्ट्रोन्नति में प्रशंसनीय और अभिनन्दनीय सहयोग ही तो करती है।

भला, ऐसे कार्यों में शासन को ही क्या, किसी भी जाति या वर्ग को क्या विरोध हो सकता है ? यदि ऐसा करने में कोई संस्थान या अधिकारी संकोच करता है या हाथ खींचता है सो यह तो उसकी स्वयं की ही कमजोरी है, इसमें शासन का कोई दोष नहीं है।

पर पता नहीं, अभी तक हमारी अधिकांश निजी शिक्षा-संस्थायें अपने इन उद्देश्यों में सफल क्यों नहीं हो पायी हैं ? वे अपने मन ही मन भले ही खुश हो लें कि वे शिक्षा के क्षेत्र में बहुत कुछ उल्लेखनीय कार्य कर रही हैं, पर जो कुछ भी वे वर्तमान में कर रहीं हैं, उसमें शासन का बोझ ढोने के सिवाय उनका अपना कुछ भी नहीं है।

इस संदर्भ में ईसाई मिशन की शिक्षा-संस्थाओं से प्रेरणा ली जा सकती है। वे छात्रों में ईसाई संस्कृति के संस्कार डालने से कभी नहीं चूकती। □

४

यद्यपि सुदर्शन के पिता नगर के नामी एडवोकेट थे और उनकी वकालत भी सबसे अच्छी चलती थी, पर वे नहीं चाहते थे कि उनका बेटा सुदर्शन भी वकालत का ही व्यवसाय करे; क्योंकि उन्हें इस बदनाम सुदा व्यवसाय से घृणा हो गई थी।

प्रतिदिन दिन में अनेक बार पुराण, कुरान और बाइबिल पर हाथ रखकर सत्य बोलने की शपथ के साथ सम्पूर्णतः असत्य का सहारा लेते-लेते वे ऊब चुके थे, अन्दर से टूट चुके थे।

न जाने कितने निरपराधियों को वे जेल भिजवा कर उनके बालबच्चों की बद्दुआयें ले चुके थे। और अपनी झूठी जीत पर मानो स्वयं ही हंस रहे हों – ऐसी नकली हंसी हंस-हंसकर लोगों को मूर्ख बनाया करते थे।

अपनी बुद्धि के बल पर सबल कुतर्कों से अनगिनत अपराधियों को अभयदान दिला चुके थे, जो उनके किताबी कानूनों की साया में सीना ताने नगर में मार-पीट, लूट-खसोट, तोड़-फोड़ से लोगों को आतंकित कर अपनी दादागिरी का रौब जमाये हुए थे।

अब तक वे जवानी के जोश में होश खोकर अन्य साधारण वकीलों की दौड़ में आगे निकलने के लिए नीति-अनीति की परवाह किये बिना दौड़ रहे थे। पर विवेक जागृत होते ही इस झूठे यश और धन के लोभ की पराकाष्ठा ने अब उन्हें झकझोर दिया था, अब वे आत्म ग्लानि से भर चुके थे। अतः अब वे किसी भी कीमत पर अपने बेटे को इस पाप की दल-दल में नहीं फंसने देना चाहते थे।

इसी कारण उन्होंने सुदर्शन को बचपन से ही नैतिक शिक्षा और धार्मिक संस्कार दिए थे और उसे अधिकतम धार्मिक वातावरण में रखने का प्रयास किया था।

× × ×

स्नातक होने के बाद जब सुदर्शन ने अपने पिताश्री से एलएल.बी. में एडमीशन लेने की अनुमति मांगी, वकालत का ही व्यवसाय करने

की इच्छा प्रगट की तो उसके पिता ने उसे मार्गदर्शन देते हुए कहा कि – "बेटा ! क्यों न तुम पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही पुरानी लीक को छोड़कर कोई स्वतंत्र व्यवसाय ही चुन लो, कोई सीधा-सच्चा काम कर लो ? यदि मेरी सलाह मानों तो काली करतूतों को अपने दामन में छिपानेवाला यह कालाकोट तुम पहनों ही नहीं तो कैसा रहे ? मेरी सलाह तो यही है, फिर तुम स्वयं समझदार हो और निर्णय लेने की क्षमता तुममें आ गई है, अत: मैं बाध्य तो नहीं करता, पर एक पिता के नाते जो मुझे कहना था सो कह दिया है।

× × ×

सुदर्शन एक स्वतंत्र विचारक और बुद्धिमान तो था ही, साथ ही समय-समय पर पिता द्वारा प्राप्त सदाचारी संस्कारों से उसके विचार और भी परिमार्जित हो गये थे। अत: उसने पिता की पवित्र भावनाओं का सम्मान करते हुए कहा – "पापा ! यद्यपि आपके सामने 'छोटे मुंह बड़ी बात' कहते हुए मुझे संकोच होता है, पर इस विषय में समय-समय पर प्रगट हुई आपकी भावनाओं पर मैंने काफी सोचा-विचारा है और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि – **काम कोई भला-बुरा नहीं होता, भलाई-बुराई होती है व्यक्ति के विचारों में। यदि विचार नैतिक हैं तो हर काम नेक है, भला है और यदि विचारों में अनैतिकता है, लोभ-लालच है, स्वार्थभावना है, परिणामों में निर्दयता व क्रूरता है, लड़ाने-भिड़ाने में ही जिसे आनन्द आता है तो वह कोई भी काम क्यों न करें, उस काम को तो बदनामी मिलनी ही है।**

आप ही सोचिए न ! ढोंगी और पाखंडियों के हाथ में पड़कर पूजा-पाठ, धर्म-ध्यान और प्रवचन जैसे पवित्र काम भी ढोंग और पाखंड के नाम से बदनाम हो रहे हैं। इसमें काम का क्या दोष है ? केवल गलत हाथों में पड़ने से ही ये काम बदनाम हुए हैं न ? यही स्थिति वकालत की है। अन्यथा इस व्यवसाय में तो हम उल्टे सच बोलने के लिए बाध्य हैं; क्योंकि जिन्हें पुराण और कुरान की साक्षी पूर्वक सच बोलने की प्रतिज्ञा कराई जाती है, वह और उसका सलाहकार असत्य कैसे बोल सकता है या बुलवा सकता है ?

वकील का काम तो केवल इतना ही है न कि वह न्यायकर्ता और न्याय माँगने वाले के बीच दुभाषिये का काम करे और सत्य पक्ष को उजागर करने में न्यायाधीश की मदद करे।

यह कौनसी कानून की किताब में लिखा है कि – "वकील धन बटोरने के लिए वादी-प्रतिवादियों को झूठे-सच्चे आश्वासन दे-दे कर मुकदमे लड़वाएं और मनमानी फीस वसूल करे। तथा झूठ को सच और सच को झूठ करने में अपनी शक्ति और जनता के धन का अपव्यय करे।

अतः पापा! मैं इसी व्यवसाय को करके यह बता देना चाहता हूँ कि वकालत का काम एक निहायत पवित्र पेशा है, और यह काला कोट काली करतूतों को छिपाने का साधन नहीं, बल्कि सूरदास की उस काली कामरी का प्रतीक है, जिस पर कृष्ण भक्ति के रंग के सिवाय दूसरा रंग नहीं चढ़ता था। अतः मेरे इस काले कोट पर भी अन्याय, अनीति, बेईमानी और धन के लालच का कोई रंग नहीं चढ़ सकेगा।

× × ×

बस, इसी संकल्प के साथ सुदर्शन में अपने पैतृक व्यवसाय को ही पसंद किया था। भले ही उसने अपनी पूर्व पीढ़ी से चले आये व्यवसाय में परिवर्तन नहीं किया पर उसमें उसने आशातीत प्रगति की।

व्यवसाय में परिवर्तन करके वह पलायनवादी प्रवृति को प्रोत्साहन नहीं देना चाहता था। उसका सोचना था कि रणछोड़दास बनने के बजाय न्यायनीति से रण करना ठीक है।

अन्तर-बाह्य व्यक्तित्व का धनी सुदर्शन देखने में सु-दर्शन तो था ही सत्यप्रिय, सदाचारी और धर्मप्रेमी भी था।

वकालात का व्यवसाय होने पर भी सत्य के प्रति इतनी निष्ठा अपने आप में असाधारण बात है। कोई कितनी भी फीस का प्रलोभन क्यों न दे? पर वह झूठे मुकदमें कभी स्वीकार नहीं करता था, फिर भी उसके पास इतने मुकदमें आते थे कि वह मना करते-करते हैरान हो जाता था।

जिसे सच्चा न्याय दिलाने से ही फुरसत नहीं मिलती हो, वह झूठे मुकदमें ले ही क्यों? सच को झूठ और झूठ को सच करने में अपनी शक्ति का अपव्यय और वादी-प्रतिवादी के पैसों का अपव्यय करने में उसका विश्वास नहीं था।

वह महत्त्वपूर्ण मामले ही लेता था। बहुत से छोटे-मोटे झगड़े तो वह दोनों पक्षों को बुलाकर उन्हें मुकदमों से होने वाली हानियाँ और परेशानियाँ समझाकर परस्पर समझौता वार्ता से स्वयं ही निबटा देता था। कभी किसी को गलत सलाह नहीं देता। बिना कारण किसी को उलझन में नहीं डालता। इस कारण भी उसकी लोकप्रियता में चार चाँद लग गये थे।

×　　　　×　　　　×

रविवार का दिन था, सुदर्शन मन्दिर से सामूहिक पूजन का प्रोग्राम समाप्त करके प्रातः ९-३० बजे घर लौटा ही था कि ज्ञान और विज्ञान सुदर्शन के घर पहुँचे तो सुदर्शन ने दूर से ही देखकर चार कदम आगे बढ़कर कहा – "आओ, भाई ज्ञान आओ!" फिर विज्ञान की ओर दृष्टि घुमाते हुए सुदर्शन ने कहा – "ओ हो! विज्ञान! नमस्ते मि० विज्ञान! तुम तो बहुत दिनों बाद दिख रहे हो? किस दुनिया में रहते हो आजकल ?

"हाँ बात यों हुई कि पिताश्री की अस्वस्थता के कारण मैंने ग्रेजुएशन करके पढ़ाई तो छोड़ दी, पर घर आते ही कारोबार संभालने में कुछ ज्यादा ही व्यस्त हो गया, इस कारण कहीं आना-जाना नहीं हुआ, अब थोड़ी फुरसत मिलने लगी तो मैंने सोचा – चलो अपनी पुरानी मित्र-मंडली से भी मिलता चलूं। इच्छा तो बहुत दिनों से थी पर......."

विज्ञान की बात पूरी हुई ही नहीं थी कि ज्ञान हंसी के मूड में आते हुए सुदर्शन से बोला – "मित्र! तू भी किस नास्तिक से नमस्ते कर बैठा!"

सुदर्शन ने पूछा – "क्यों ऐसी क्या बात है? विज्ञान और नास्तिक ?"

"हाँ, पूरा नास्तिक है, न आत्मा में विश्वास, न परमात्मा में, न खान-पान का विवेक, न दिन-रात का विचार, जब जो जी में आये खाओ-पिओ और सुख से जिओ – ये हैं इसके विचार। विश्वास न हो तो तुम ही पूछ लो" – विज्ञान ने कहा।

सुदर्शन ने कहा – "क्यों भाई विज्ञान! यह ज्ञान? क्या कह रहा है।"

"वैसे तो लगभग ठीक ही कह रहा है, पर मुझे इस सम्बन्ध में तुमसे और ज्ञान से भी बहुत कुछ बातें करनी हैं।" –विज्ञान ने कहा।

ज्ञान ने कहा – "मैंने कहा था न कि अभी यह नमस्ते तो क्या आशीर्वाद का भी पात्र नहीं है। अभी तो इसे पहले ज्ञानगंगा में गहरी डुबकियाँ लगवाकर स्नान कराना पड़ेगा, तब कहीं यह अपने साथ उठने-बैठने लायक होगा। यह इंगलिश स्कूल में जाकर तो बिल्कुल ही नास्तिक हो गया है। नमस्ते तो जयजिनेन्द्र से भी ऊँचा अभिवादन है।' 'वीतरागाय नमः', 'महावीराय नमः' की तरह ही 'ते नमः' शब्द से नमस्ते बना है, जिसका अर्थ पूज्य पुरुषों को नमन करना होता है। समझे ?

विज्ञान ने कहा – "प्रोफेसर साहब समझायें और हमारी समझ में न आये – ऐसा कैसे हो सकता है ? समझाओ, समझाओ; और क्या समझाना है। तुम तो सब लोग मिलकर मुझे चाय-पानी की जगह – पेटभर उपदेश ही पिलाओ। दार्शनिक जो ठहरे।

"अरे मित्र ? बातों-बातों में, मैं पानी पिलाना और चाय की पूछना तो भूल ही गया। क्षमा करना मित्र !" – कहते हुए सुदर्शन ने क्षमायाचना की और नौकर को आवाज लगाते हुए कहा – "रामू ओ रामू ! पानी तो ला।"

अपने हाथ से पानी पिलाते हुए सुदर्शन ने पूछा – "क्यों भाई ! और क्या चलेगा ? चाय, काफी या दूध ? ज्ञान तो चाय, काफी लेगा नहीं, यह तो दूध लेगा, पर विज्ञान ! तुम अपनी पसंद बताओ।"

ज्ञान बीच में ही बोला – "यह गरम तो बहुत हो लिया, इसे तो ठंडा करने की आवश्यकता है, यदि कोई ठंडा हो तो वही पिलाओ। क्यों विज्ञान ! मैंने ठीक कहा है न ?"

"अरे ज्ञान ! हमारा क्या, जो पिलाओगे वही पी लेंगे"। विज्ञान ने लापरवाही से कहा.......।

सुदर्शन ने मजाक करते हुए कहा – "देखो भाई ! तुम भले ही कुछ भी पी सकते हो, पर यहाँ तो अभी आपको दूध-चाय और काफी ही मिल पायेगी। यद्यपि तुम मेरे मित्र ही नहीं मेहमान भी हो अतः मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए पर................।"

विज्ञान ने कहा – "अरे मित्र ! मित्रता में मेहमानी कैसी ? मित्र कभी मेहमान नहीं होता। मित्र तो सदा मित्र ही रहता है। मित्र के आगे मेहमान का मूल्य ही क्या ? तुम मुझे मेहमान बनाकर अपने से अलग मत करो। क्या तुम यह नहीं जानते कि मित्र और मेहमान में मौलिक अन्तर होता है ?"

मित्र और मेहमान की आपस में कोई तुलना ही नहीं है। एक पूर्व है तो दूसरा पश्चिम। मित्र के साथ कोई दुराव-छिपाव नहीं होता, दोनों की देह दो होती हैं, और दिल एक।

जबकि मेहमान के साथ होता है औपचारिकताओं का पूरा पुलिंदा, उसके सामने घर की कोई कमजोरी जाहिर नहीं की जा सकती, उसके आतिथ्य-सत्कार में कोई कमी नहीं करना चाहिए, भले ही तुम्हें उधार ही क्यों न लेना पड़े।

मेहमान भले प्यासा बैठा रहेगा, पर पानी मांगकर नहीं पियेगा और मित्र चौके में जाकर अपने हाथ से भी चाय बनाकर पी लेगा।

और सुनो, मित्र कभी किसी बात का बुरा नहीं मानता और मेहमान यदि बात-बात में बुरा न माने तो वह मेहमान कैसा ? नाराज होना और मनवाना तो मेहमान का जन्मसिद्ध अधिकार है।

अतः तुम मुझे मित्र ही रहने दो – मेहमान मत बनाओ, मेरा चौके में जाने का अधिकार तुम मुझसे नहीं छीन सकते।"

ज्ञान ने हंसी के मूड में आकर विज्ञान से कहा – विज्ञान ! तूने मित्र और मेहमान की कैसी सुन्दर व्याख्या की ? मैं तो तुझे विज्ञान का सामान्य विद्यार्थी समझ रहा था, पर तू तो पूरा दार्शनिक निकला। अभी तक मैं अपने को ही तीसमारखाँ समझ रहा था, पर तू तो चिन्तन में मुझसे भी दो कदम आगे निकल गया।

× × ×

विज्ञान ने कहा – "खैर ! जाने दो मित्र ! प्रशंसा करके मुझे बिना बात चने के झाड़ पर क्यों चढ़ाते हो ? हाँ, मुझे अभी-अभी ज्ञान ने बताया कि तुम लोगों के खाने-पीने के भी बड़े नखरे हैं। आलू नहीं खाते, प्याज नहीं खाते, मूली आदि कोई भी जमीकंद नहीं खाते, आचार-मुरब्बा नहीं खाते, बाजार का बना हलुआ, मिठाई आदि नहीं खाते, रात में नहीं खाते और पता नहीं क्या-क्या नहीं खाते-पीते ?

ऐसा क्यों ? आखिर यह सब क्या नाटक है ? इसमें तुम्हारा क्या सिद्धान्त है ?

अरे ! जो जब जी में आये खाओ-पीओ और सुख से जिओ। व्रत उपवास करके और पौष्टिक पदार्थों का त्याग करके शरीर को क्यों सुखाते हो ? आखिर ये भी कोई जीवन है ? न कोई मनोरंजन न कोई मौज-मस्ती। किस पाखंडवाद के चक्कर में पड़ गये हो ? अरे ! तुम पूजा पाठ का ढोंग रचने के बजाए जनता की सेवा करो। सेवा ही सच्चा धर्म है।"

विज्ञान बैठक में बैठा-बैठा ज्ञान से यह कह ही रहा था कि इसी बीच सुदर्शन अन्दर से बैठक में आ गया और उसने मेहमान की मर्यादा रखते हुए मित्र के नाते विज्ञान से जरा ऊंचे स्वर में कहा – "विज्ञान ! ज्ञान का सदाचारी, नैतिक और धार्मिक जीवन आखिर तुझे पाखण्ड-सा क्यों लगता है ? और यदि पत्थर पूजने में कुछ नहीं हैं तो तू कागज के टुकड़ों को क्यों पूजता है ?"

विज्ञान ने विस्मय भाव से कहा – "क्या कहा ? मैं कागज के टुकड़े पूजता हूँ। किसने कह दिया यह तुमसे ?" सुदर्शन ने कहा – "कहेगा कौन ? मैंने अपनी आँखों से देखा है।"

"कब" ? विज्ञान ने फिर विस्मय भाव से पूछा।

सुदर्शन ने दृढ़ता के साथ कहा – "कब क्या ? तू अपने दादाजी के फोटो पर नित्य नई-नई मालायें ला-ला कर डालता है या नहीं ?"

विज्ञान ने कहा – "हाँ, डालता हूँ, पर उससे तुम्हें क्या लेना-देना है ? तुम्हें पता नहीं, मेरे दादाजी के मेरे ऊपर कितने उपकार हैं ? वे मुझ से कितना प्यार करते थे ? कैसी-कैसी कहानियाँ सुनाया करते थे ? उनकी मैं जितनी भी कृतज्ञता ज्ञापित करूँ, कम है। पर तुम पूजा-पाठ की बातचीत के बीच में मेरे दादाजी को क्यों घसीट लाये ?"

सुदर्शन ने कहा – "अरे विज्ञान ! तुम्हारे दादाजी ने तो केवल ४-५ वर्ष ही तुम्हें प्यार किया और तुम्हारी देख-भाल की तथा किस्से कहानियाँ सुनाईं। जब इतने मात्र से तुम्हारी उन पर ऐसी भक्ति और इतना प्रेम उमड़ता है कि तुम उनकी फोटो पर रोज-रोज एक से बढ़कर एक मालायें पहनाते हो तो जिन तीर्थंकरों ने हमारे

अनन्त काल के अनन्त दुःख दूर करने का सन्मार्ग दिखाया हो, यदि हम उनकी मूर्ति बनाकर पूजा कर लेते हैं, तो तुम्हें हमारा यह कार्य ढोंग-सा क्यों लगता है ?

सुदर्शन के तर्क ने विज्ञान की बोलती बन्द तो कर दी, उसे निरुत्तर तो कर दिया, पर अभी ज्ञान का पूजा-पाठ करना विज्ञान के हृदय को स्वीकृत नहीं हुआ ।

अतः उसने कहा –"भाई ! तुम कुछ भी कहो, परन्तु फोटो पर माला पहनाना मुझे जैसा स्वाभाविक लगता है वैसी स्वाभाविकता पूजा-पाठ में नहीं लगती ।"

सुदर्शन ने पहले तो व्यंग में कहा – "हाँ, ठीक है तुम्हारा खून तो खून और हमारा खून पानी । खैर, कोई बात नहीं, यह तो मन माने की बात है । तुम अपने विचारों के लिए स्वतंत्र हो । विचार स्वातंत्र्य तो मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है ।"

सुदर्शन ने अब भी अपने मन से हार नहीं मानी, अतः उसने विज्ञान का समाधान करने की भावना से पुनः कहा – "अरे भाई ? जहाँ तक स्वाभाविक और अस्वाभाविक लगने की बात है सो उसका कारण तो यह है कि जैसा प्रत्यक्ष परिचय तुम्हारा दादाजी से है वैसा तीर्थंकरों से नहीं । जब तुम दादाजी की भाँति ही तीर्थंकरों से और उनकी वाणी से भी प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर लोगे तो तुम्हें उनकी पूजा-भक्ति में भी वैसी ही अनुभूति होने लगेगी ।"

सुदर्शन के तर्क और युक्तियों से विज्ञान कुछ हिल तो गया, पर अभी बदला बिल्कुल नहीं ।

(५)

चिन्ता हो या चिन्तन – नींद तो दोनों में ही नहीं आती, पर चिन्ता से चिन्तन श्रेष्ठ है। चिन्ता एक मानसिक विकृति का नाम है और चिन्तन है विशुद्ध तत्त्वविचार। चिन्ता अशान्ति और आकुलता की जननी है और चिन्तन है निराकुलता और शान्ति का स्रोत। चिन्तायें चेतन को जलाती हैं और चिन्तन राग-द्वेष को, मन के विकारों को। चिन्ताओं के घेरे में आत्मा अनुपलब्ध रह जाता है और चिन्तन से होती है आत्मतत्त्व की उपलब्धि।

अत: विवेकीजन चिन्ताओं की राह छोड़कर चिन्तन की राह ही पकड़ते हैं। तत्त्वचिन्तन ही सदैव आदरणीय है, अनुकरणीय है।

× × ×

विज्ञान बिस्तर पर पड़े-पड़े बहुत देर तक सोने की चेष्टा करता रहा, पर वह चिन्ताओं के घेरे में ऐसा उलझ गया था कि उसे रात्रि में तृतीय प्रहर तक नींद नहीं आई थी। आती भी कैसे? चिन्ता और निद्रा का तो परस्पर साँप और नेवले की तरह जन्मजात वैर-विरोध है।

चिन्ताओं की परेशानी से बचने के लिए व्यक्ति अचेत हो जाना चाहता है, नींद की गोलियाँ खाकर भी सोना पड़े तो भी सो जाना चाहता है।

पर, आज विज्ञान की चिन्ता का विषय और कुछ नहीं, उसके स्वयं के अंधकारमय भविष्य को ज्योतिर्मय बनाने का था, क्योंकि सुदर्शन ने और उसके फैम्ली डॉक्टर ने उसको उसकी यथार्थ स्थिति का बहुत अच्छी तरह आभास करा दिया था। इस कारण आज उसके मानस-पटल पर सुदर्शन और डॉक्टर के द्वारा दर्शाये गये उसके भावी जीवन के भयानक दृश्य चलचित्र की भाँति एक के बाद

एक उभर कर आ रहे थे और वह उनके सही समाधान की खोज में चिंतित था।

वह सोच रहा था – "सुदर्शन जो भी कहता है वह सब ठीक ही तो कहता है, उसकी बातें बिना सोचे-समझे यों ही अनसुनी करने लायक नहीं हैं। उसकी एक-एक बात विचारणीय है, अनुकरणीय है।

एक तो वह दुर्व्यसन छोड़ने और दुराचारियों से दूर रहने की सलाह देता है और दूसरे, देवदर्शन करने और समय पर प्रवचनों में पहुँचने का आग्रह करता है, इसके सिवाय वह और कहता ही क्या है ?

उसे तो देखो, कितने व्यस्त कार्यक्रम में से वह इन कामों के लिए अपना समय निकाल लेता है। नया-नया वकील बना है, अतः काम जमाने के लिए जनसम्पर्क करने की जरूरत है और कानून की किताबें पढ़ना भी अति आवश्यक है। प्रतिदिन सुबह-शाम कम से कम दो घण्टे बैठक में बैठकर फाइलें भी देखना और सम्बन्धित व्यक्तियों से बात-चीत करना भी जरूरी है; फिर भी वह प्रतिदिन दर्शन-पूजन करने और प्रवचन सुनने से नहीं चूकता। इतना ही नहीं, मुझ जैसे मित्रों का मार्गदर्शन करने और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का भी समय वह निकाल ही लेता है।

मैं ही एक ऐसा व्यक्ति हूँ जो अपना सारा समय यों ही बिना काम की बातों में बर्बाद कर देता हूँ। 'मेरे पास समय नहीं, मुझे फुरसत नहीं' यह तो केवल एक बहाना है। जिसकी जिस काम में रुचि होती है, उस काम के लिए तो उसके पास समय ही समय है। 'हाथ कंगन को आरसी क्या ?' सुदर्शन को ही देख लो न ? कितना व्यस्त है वह, फिर भी समय निकाल लेता है न इन कामों को ?

मेरे पास ऐसा काम ही क्या है ? धंधा सब पहले से ही जमा-जमाया है और फिर देखने वाले सब कर्मचारी भी हैं ही, मैं देखता भी कितना हूँ ? फिर भी मैं कुछ नहीं कर पाता हूँ।

वस्तुतः यह मेरी ही कमजोरी है, मैं ही अपनी आदतों का दास हो रहा हूँ, इसमें किसी और को दोषी ठहराना ठीक नहीं है। मुझे स्वयं ही चेतना होगा। मेरे हित में जो सुदर्शन सोचता है, ज्ञान सोचता है, वही सब तो विद्या चाहती है तथा मेरी इन्हीं आदतों के

कारण तो वह मुझसे रूठी-रूठी-सी रहती है। और अब तो डॉक्टर साहब भी यही सलाह देने लगे हैं।

वे उस दिन कह रहे थे न ? 'यदि आपने मदिरा पान करना और सिगरेट पीना नहीं छोड़ा तो अब आप इस दुनिया में अधिक दिन नहीं रह पायेंगे। बात कुछ कठोर है, मुझे डॉक्टर के नाते तो नहीं कहना चाहिए, पर मैं एक मित्र के नाते आपको साफ-साफ बता देना चाहता हूँ। आपकी आँतें और लीवर मदिरा के क्षार तत्त्व से अत्यधिक प्रभावित हो चुके हैं। और सिगरेट के धुएँ से आपके फेफड़े भी क्षीण हो चुके हैं। सोच लो ! यदि जिन्दगी प्यारी हो तो अब यह सब छोड़ना ही पड़ेगा।'

ये सभी कोई मेरे शत्रु तो हैं नहीं। लगता है मेरी अक्ल पर ही पत्थर पड़ गये हैं, जो मैं किसी की कुछ सुनना ही नहीं चाहता – और अपनी ही मनमानी किए जा रहा हूँ।

डॉक्टर साहब यह भी तो कह रहे थे कि – 'अभी भी ऐसा कुछ नहीं बिगड़ा, जिसका इलाज न हो सके। यदि इसी तरह कुछ दिन और चलता रहा और 'पानी सिर पर से गुजर गया' तो फिर भगवान भी नहीं बचा पायेंगे तुम्हें इतना समझ लेना। समझदार को संकेत ही काफी होता है।'

डॉक्टर की बातें सुन-सुन कर उनके वयोवृद्ध कम्पोडर चाचा से भी चुपचाप बैठे नहीं रहा गया तो उन्होंने ज्ञान और सुदर्शन के सुखी जीवन का उल्लेख करते हुए कहा था – देखो न, आज ज्ञान और सुदर्शन की घर में, परिवार में और समाज में भी कितनी इज्जत है ? कितना आदर-सम्मान देते हैं लोग उन्हें ?

और एक तुम हो, जिससे कोई भला आदमी बात करना भी पसन्द नहीं करता। जबकि आज तुम्हारे पास भगवान का दिया सबकुछ है। क्या नहीं है तुम्हारे पास – कोठी, बंगला, मोटरगाड़ी, कल-कारखाने, नौकर-चाकर, मुनीम-गुमास्ते सभी कुछ तो है और तुम्हारी तुलना में उन लोगों के पास क्या है ? कुछ भी तो नहीं है। न बंगला, न गाड़ी, फिर भी लोग उनकी इज्जत करते हैं।

इससे साफ-साफ जाहिर है कि दुनिया में आज भी गुणों का ही आदर है, धन-वैभव का नहीं। भले ही तुम धनी हो, पर तुम्हारे धन से दुनियाँ को क्या लेना-देना है। घोड़े की पूंछ लम्बी होती है तो उससे वह अपनी ही मक्खी तो भगा सकता है, सवार को उसकी लम्बी पूंछ से क्या लाभ ?'

कम्पोडर चाचा ने आगे कहा – 'जो चन्द्रमा पर थूंकने की कोशिश करता है, सारा थूंक लौटकर उसके मुंह पर गिरता है, चन्द्रमा का उससे क्या बिगड़ता है ? कुछ भी नहीं।

तुमने और तुम्हारे साथियों ने ज्ञान और सुदर्शन की हँसी भी उड़ाई, मजाक भी बनाया, अनादर और उपेक्षा भी की, तो भी वे तुमसे नाराज नहीं हुए, उससे उनका बिगड़ा भी क्या ? कुछ नहीं, उल्टे दुनिया की नजर से तुम ही हँसी के पात्र बन गये।

कितने भले आदमी हैं वे ? कभी किसी की बुराई करना और कभी किसी पर क्रोध करना तो वे जानते ही नहीं हैं, और एक तुम लोग हो जो चौबीसों घण्टे अपनी स्वार्थ साधना में ही लगे रहते हो। तुम्हें तो अपने ऐशो-आराम और मौज-मस्ती से ही फुरसत नहीं है, तुम किसी का परोपकार क्या करोगे ?"

कम्पोडर चाचा की बातों पर विचार करते-करते ज्यों ही उसकी पलकें झपकीं कि वह स्वप्नलोक में विचरने लगा।

स्वप्न में उसने सुदर्शन को फिर सामने खड़े देखा, जो कह रहा था – "विज्ञान ! तू जिसे आधुनिक सभ्यता समझ बैठा है, वह सभ्यता नहीं, असभ्यता की परकाष्ठा है। क्या सातों व्यसनों का सेवन करने का नाम ही सभ्यता है ? क्या मांस, मदिरा का सेवन करना ही सभ्यता है ? क्या 'कालगर्ल्स' के नाम से आहूत पराई बहिन-बेटियों की मजबूरी का ना-जायज फायदा उठाना और उन्हें सदा के लिए नरक के द्वार में ढकेल देने का नाम ही सभ्यता है ?

अरे ! ये दूसरों के नहीं, वरन् अपने नरक के द्वार खोलना है।

मैं पूछता हूँ कि यदि यही सब सभ्यता है तो फिर असभ्यता क्या है ?

यदि कोई हमारी बहिन-बेटियों से ऐसा दुर्व्यवहार करे तो हमें कैसा लगेगा ? – जरा इस आइने में झांक कर तो देखो ! फिर तुम्हें जो ठीक लगे सो करो ।

अरे भाई ! किसी ने ठीक ही कहा है – आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरे अर्थात् जो अपने को अच्छा न लगे – ऐसा व्यवहार दूसरों के साथ मत करो ।"

सुदर्शन कहे जा रहा था और विज्ञान नीची गर्दन किए सुने जा रहा था ।

सुदर्शन ने समझाते हुए आगे कहा – "जरा सोचो, समझो, मैं तुम्हारा बालसखा हूँ, कोई शत्रु नहीं । इधर तुम्हें इस हालत में देखकर और उधर तुम्हारी पत्नी को तुम्हारी दुर्दशा के कारण दुःखी देखकर मुझे भारी वेदना होती है । बस, इसीलिए मैंने तुमसे कठोर भाषा में इतना सबकुछ कह डाला है । इसकारण यदि तुम्हारा दिल दुःखा हो तो मेरे मित्र ! मुझे माफ कर देना ।"

सुदर्शन की अत्यन्त प्रेरणादायक बातें सुनकर विज्ञान पानी-पानी हो गया था । उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी । अब उसका मानस सुदर्शन की हर बात मानने को तैयार था, पर उसके सामने पहाड़ जैसी परेशानियाँ खड़ी दिखाई दे रही थीं ।

उसने साहस बटोर कर आँसू पोंछते हुए सुदर्शन से कहा – "भाई ! तुम्हीं बताओ – मैं करूँ तो करूँ भी क्या ? मैं इस आधुनिक सभ्यता की दौड़ में इतना आगे बढ़ चुका हूँ कि जहाँ से वापिस लौटने की मुझे कोई संभावना ही दिखाई नहीं देती ।"

कहते-कहते वह फूट-फूटकर जोर-जोर से रोने लगा । उसकी रोने की आवाज सुनकर उसके बगल में सो रही उसकी पत्नी विद्या की नींद खुल गई । उसने विज्ञान को आजतक कभी रोते नहीं देखा था । इसकारण वह भी भावुक हो उठी और उसका भी गला भर आया । विज्ञान की पीठ पर प्रेम से हाथ फेरते हुए उसने धीरे से पूछा – "क्या बात है ? अभीतक सोये नहीं ? कोई भयानक स्वप्न देखा है क्या ? आज आपको यह क्या हो गया है ? पहले तो मैंने आपको कभी ऐसा रोते नहीं देखा । ये आँखें लाल-लाल कैसे हो गई

हैं ? आप तो महिलाओं की तरह फूट-फूट कर और सिसक-सिसक कर ऐसे रो रहे हो जैसे कोई महान अनर्थ हो गया हो; आखिर बात क्या है ? कुछ कहो भी तो !"

एकसाथ अनेक प्रश्न सुनकर आँसू पोंछते हुए और सिसकियाँ संभालते हुए विज्ञान ने कहा – "विद्या ! मैं क्या बताऊं मुझे क्या हो गया ? विचारे सुदर्शन और ज्ञान मेरी चिन्ता में कितने परेशान रहते हैं, मेरे भले के लिए न जाने क्या-क्या सोचा करते हैं, क्या-क्या योजनायें बनाया करते हैं। कल मेरी उनसे अनायास भेंट हो गई, तो दोनों ने मुझे एक घण्टे तक समझाया और अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। उनके कल के विचारों से मैं बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ।

वहाँ से लौटते समय मैंने सोचा – 'चलो, डॉक्टर साहब के यहाँ से एक्स-रे की रिपोर्ट ही लेता चलूं – वहाँ गया तो डॉक्टर साहब ने जो कुछ कहा, उससे तो मेरी सारी हिम्मत ही टूट गई।'

उन्हीं सब समस्याओं के विकल्प में उलझ जाने से मैं अनेक संभावित-असंभावित चिन्ताओं के घेरे में घिरा रहा – बस इसी उधेड़-बुन में रात के दो बज गये। जैसे-तैसे पलक झपके ही थे कि मैं स्वप्न-संसार में पहुँच गया और वहाँ फिर सुदर्शन से भेंट हो गई। वह बहुत कुछ तो पहले प्रत्यक्ष में समझा चुका था, रही-सही कसर उसने स्वप्न में पूरी कर दी। उसे सुनकर मैं इतना भावुक हो उठा कि मैं वास्तव में ही फूट-फूट कर जोर-जोर से रोने लगा हूँ।

विद्या ! सुदर्शन ने अभी-अभी स्वप्न में मुझे जो मार्गदर्शन दिया है, उसने मुझे ऐसा झकझोरा है कि मेरी नींद तो खुल ही गई, हृदय की बंद आँखें भी खुल गईं। उससे मुझे एक नया दिव्य प्रकाश मिला है।

वैसे भी इन दिनों उन दोनों की मेरे ऊपर बहुत ही स्नेह भरी दृष्टि है। उन्हें जब-जहाँ भी अवसर मिलता है, मेरा मार्गदर्शन अवश्य ही करते हैं, परन्तु खेद है कि मैं अब तक उनकी बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दे पाया हूँ।"

धैर्य बँधाते हुए विद्या बोली – "घबराओ मत ! यदि तुम चाहोगे तो सब रास्ते निकल आयेंगे। अभीतक तो तुम्हारी ही समझ में नहीं

आ रहा था, इसकारण कोई भी व्यक्ति तुम्हारी सहायता कैसे कर सकता था ? यदि तुम स्वयं स्वेच्छा से उन झंझटों से मुक्त होना चाहते हो, तो दुनिया में कुछ भी असंभव नहीं है। अभी तो सो जाओ। यदि इसी उधेड़-बुन में शेष रात और बीत गई तथा नींद पूरी न हो सकी तो सवेरे सिर-दर्द करने लगेगा।"

विज्ञान बोला – "ये तो ठीक है, पर यह भी तो बताओ – मैं उन मित्रों से बचूंगा कैसे ? जिनके साथ मेरा व्यापारिक सम्बन्ध है, दिन-रात साथ-साथ उठना-बैठना है, लेन-देन का व्यवहार है, उनसे मिले बिना कैसे चलेगा ? अतः अब मैं चाहूँ तो भी उस दल-दल से नहीं निकल पाऊँगा। मैं उनसे ना भी मिलूं तो वे सब कोई न कोई बहाना सोचकर मेरे पास यहाँ आ धमकेंगे। और कुछ नहीं तो मेरी तबियत का समाचार पूछने के बहाने ही आ जावेंगे। उनसे बचने का उपाय मेरी समझ में नहीं आ रहा है। वे मुझे यों ही आसानी से छोड़नेवाले नहीं हैं।

विद्या ! मेरी स्थिति तो अब सांप-छछूंदर जैसी हो गई है, सांप मुंह में दबाये हुए छछूंदर को न तो निगल सकता है और न उगल सकता है। निगलता है तो पेट फटता है और उगलता है तो अन्धा हुआ जाता है।

बस, इसी तरह यदि मैं उनका साथ छोड़ता हूँ तो भी मुसीबत, और नहीं छोड़ता हूँ तो भी मुसीबत। साथ छोड़ने पर पता नहीं वे क्या-क्या हथकन्डे अपनायेंगे। संभव है वे मेरे साथ तुम्हें भी धर्म-संकट में डाल दें।"

साहस बटोरते हुए विद्या ने कहा – "तुम मेरी चिन्ता मत करो। मैं एक-एक की कमजोरी जानती हूँ। अभी तक तो वे तुम्हारा संरक्षण पाकर बाहर घूमते दिखाई दे रहे हैं अन्यथा अबतक तो मैं उन्हें कभी की हवालात की हवा खिला देती।"

विद्या ने बात जारी रखते हुए आगे कहा – "हाँ, तुम्हारा यह सोचना सही है कि वे तुम्हें आसानी से नहीं छोड़ेंगे; क्योंकि सोने के अण्ड देनेवाली मुर्गी को कोई भी आसानी से नहीं छोड़ता। पर, यदि तुम चाहोगे तो उसका भी उपाय मेरे पास है।

पर अभी उनके छोड़ने न छोड़ने की बात ही कहाँ है ? अभी तो समस्या यह है कि तुम ही उनका साथ नहीं छोड़ना चाहते हो। क्यों मैं ठीक कहती हूँ न ?"

–" नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है विद्या ! मैं तुम्हारे माथे पर हाथ रखकर प्रतिज्ञा कर चुका हूँ न ? कि अब मैं उनका साथ नहीं दूंगा। कोई भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े, पर अब मैं उनके संग नहीं रहूँगा।"

विज्ञान की भावुकता में ली गई प्रतिज्ञा को पक्का कराने की नियत से विद्या ने कहा –"हे प्रियवर ! भावुकतावश ये भीष्म प्रतिज्ञायें कर लेना एक बात है और उन्हें आजीवन निभाना दूसरी बात; अतः पहले तुम अपने-आप को तो पक्का कर लो। तुम्हें पता है तुम्हारी ये भीष्म-प्रतिज्ञायें पहले कितनी बार भंग हो चुकी हैं ? वह तो मैं ही हूँ, जो तुम्हारे साथ निभ रही हूँ कोई और ऐसी-वैसी होती तो बेचारी कभी की बे-मौत मर गई होती।"

"विद्या ! तुम ठीक कहती हो। मैंने तुम्हें बहुत सताया, एक तुम्हीं हो जो आशा की ज्योति जलाये चुपचाप सब सहती रही, हिम्मत नहीं हारी।

अबतक जो हुआ उसके बारे में तो क्या कहूँ – पर अब में तुम्हें एक बार फिर विश्वास दिलाता हूँ कि अब से ऐसी कोई भूल नहीं करूँगा, जिससे तुम्हें दुःख हो और मुझे पछताना पड़े।"

कुछ हंसी के मूड में आती हुई विद्या ने कहा – "विज्ञान ! तुम बातें तो बहुत अच्छी कर लेते हो। इन्हीं मीठी-मीठी बातों में आकर तो मैं तुम्हारे चक्कर में आ गई थी और तुम्हें अपना दिल दे बैठी। खैर ! कोई बात नहीं, अबतक जो हुआ सो तो हुआ पर अब………।

मैं तो यही कामना कर सकती हूँ कि भगवान ! ऐसे पुरुषों को शीघ्र सद्बुद्धि आवे।"

"अरे विद्या ! अब मैं कह कर नहीं, करके ही दिखाऊंगा।

अब मेरी बातों में तुम्हें ऐसे विश्वास नहीं आयेगा। आये भी क्यों ? मैंने स्वयं ही तो अपना विश्वास खोया है। तुम ही क्या ? आज कोई भी तो मुझ पर विश्वास नहीं करता।

विद्या ! कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि यदि मेरे मम्मी-पापा ने मुझे होस्टल में नहीं भेजा होता तो शायद मुझे ये दिन नहीं देखने पड़ते। काश ! मैं भी सुदर्शन और ज्ञान की भाँति ही किसी ऐसे विद्यालय में पढ़ता, जहाँ लौकिक शिक्षा के साथ-साथ सदाचार के संस्कार भी मिलते।"

"देखो विज्ञान ! तुम मम्मी-पापा को दोष नहीं दे सकते। उन्होंने तो तुम्हारे हित के लिए ही पानी की तरह पैसा बहाकर अच्छे से अच्छे स्कूल और राजशाही होस्टल में प्रविष्ट कराया था, ताकि तुम्हारा शारीरिक और बौद्धिक विकास सर्वोत्तम हो। वे तो यह चाहते थे कि 'मेरा बेटा बड़ा व्यापारी बने विदेशों में जाकर भी व्यापार करे,' इसीलिए तो उन्होंने अंग्रेजी भाषा और विदेशी संस्कृति व सभ्यता से तुम्हें परिचित कराया है।

कोई माता-पिता यदि अपने आंगन में कुँआ खुदवाता है तो इसलिए नहीं कि उसकी सन्तान उसमें डूब मरे, बल्कि इसलिए कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी सबको सदैव शीतल जल उपलब्ध रहे। यदि हम अपनी नादानी से उसमें गिर पड़ें तो इसमें उन बेचारों का क्या दोष है ?

तुम्हें याद होगा – तुम्हारे पापा ने एक बार स्कूल के वार्षिकोत्सव पर अपना अध्यक्षीय भाषण देते हुए यह भी तो कहा था कि 'गुलाब में फूल भी होते हैं और कांटे भी; पर तुम्हें उससे केवल फूल ग्रहण करना है, कांटे नहीं। कांटों से तो उल्टा बचना है, क्योंकि ऐसा गुलाब का कोई पौधा नहीं, जिसमें फूल ही फूल हों, कांटे न हों। अतः सबको फूलों और कांटों की पहचान अवश्य होना चाहिए। यह तो हमारे-तुम्हारे विवेक पर ही निर्भर करता है कि हम क्या चुनते हैं ? केवल कांटों को कोसकर, उन्हें बुरा-भला कहकर हम उनके कष्टों से नहीं बच सकते। दूसरों को दोष देने वाले कभी अपनी उन्नति नहीं कर सकते। क्या तुम यह सब भूल गये ?"

अपना स्वयं का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए विद्या ने कहा – "देखो विज्ञान ! मैं भी तो कान्वेन्ट स्कूल में ही पढ़ी हूँ, होस्टल में

भी रही हूँ, वहीं तो हमारा-तुम्हारा प्रथम परिचय हुआ। याद है न? पर मैंने तो आज तक मदिरा छुई ही नहीं, कभी जुआ खेला ही नहीं। पुरुषों के साथ दोस्ती करने के लिए कभी हाथ आगे बढ़ाया ही नहीं। बताइये! मेरे व्यक्तित्व के विकास में क्या कमी रह गई?"

"विद्या! तुम ठीक कहती हो, पर तुम जैसे कितने हैं? फिर लड़कियों की बात कुछ और ही है, वे चाहें तो बच सकती हैं, पर लड़कों का अपने साथी-संगियों से बच पाना बहुत कठिन काम है। और फिर हम जैसे बिना पेंदे के मुरादाबादी लोटों की तो बात ही मत करो! जिसका ज़रा सा हाथ लगा कि वहीं लुढ़क गये।"

"अरे विज्ञान! ये सब तो बच निकलने के बहाने हैं बहाने! यदि आदमी ठान ले, दृढ़ संकल्प करले तो उसे तो कोई हिला भी नहीं सकता।

परेशानियाँ तो लड़कों से अधिक लड़कियों को आती हैं। तुम क्या जानो नारियों की दुर्बलता! यदि जानना हो तो महाकवि प्रसाद से पूछो – उन्होंने कामायनी में खींचा है नारी की दुर्बलता का एक शब्दचित्र—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आंखों में पानी॥

स्त्रियाँ कितनी पराधीन होती हैं, तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। हमें एक-एक कदम फूंक-फूंक कर रखना पड़ता है। कह नहीं सकते, हमारे साथ कब क्या घट जाय? अतः हिरणियों की भाँति चौबीसों घण्टे चौकन्ना रहना पड़ता है। कदम-कदम पर शंका आशंकाओं के कांटों का जाल बिछा रहता है स्त्रियों की राह में। जिन नर पिशाचों के बीच में चौबीसों घंटे रहना है, उनसे कहाँ तक बचें?

फिर पुरुषों की मनोवृत्ति तुम जानते ही हो। जैसे मांस पर गिद्ध मंडराते हैं, वैसे ही महिलाओं पर चारों ओर ये नर-गिद्ध मंडराते रहते हैं। गिद्ध तो बेचारे मात्र मरे पशुओं का ही मांस नोचते-खाते हैं, पर ये तो जिन्दा नारियों का मांस नोचने को फिरते हैं।

कदाचित् किसी महिला में कहीं कोई कमजोरी देखी नहीं कि उसे डरा-धमका कर – उसके साथ ब्लेकमेल कर उसे पथ भ्रष्ट करने

से नहीं चूकते। क्या-क्या बतायें महिलाओं की कमजोरियाँ, फिर भी वे अपने दृढ़ संकल्प और विवेक के बल पर उन सब बुराइयों से बची रहती हैं।

यदि शेष जीवन को सुखी बनाना है और संतान को भी सदाचारी और सुखी व समृद्ध देखना चाहते हो तो तुम्हें अपने बल पर ही अपने साथी-सगियों से संघर्ष करना होगा।"

विद्या कहे जा रही थी और आज विज्ञान शान्ति से उसकी सब बातें सुन रहा था।

इस बात से आज विद्या मन ही मन बहुत प्रसन्न थी। बहुत प्रतीक्षा के बाद उसे विज्ञान का मानस कुछ पलटता सा दिखाई दे रहा था। उचित अवसर पाकर उसने विज्ञान को ज्ञान और सुदर्शन से सम्पर्क बढ़ाने के लिए भी प्रेरित किया।

वह विज्ञान की कमजोरी को पहचानती थी, वह अच्छी तरह जानती थी कि यह विज्ञान का क्षणिक श्मसानिया वैराग्य है। ये कल वातावरण बदलते ही फिर उसी चक्कर में आ जायेंगे। ऐसा तो पहले भी अनेक बार हो चुका है। — अतः उसने अपने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया था कि "इन्हें इनकी प्रतीक्षा के खूँटे से बाँधे रखने के लिए मुझे सतत प्रयत्नशील रहना होगा।" □

६

'पानी पीजे छानकर, मित्र कीजे जानकर', – यह लोकोक्ति बताती है कि यदि बीमारियों से बचना चाहते हो तो पानी सदैव छानकर ही पिओ और यदि विपत्तियों से बचना चाहते हो तो मित्र बनाने के पहले मनुष्य को अच्छी तरह से परख लो; क्योंकि दुनिया में ऐसे मतलबी मित्रों की कमी नहीं है, जो केवल स्वार्थ के ही साथी होते हैं, सम्पत्ति के ही संगाती होते हैं, विपत्ति पड़ने पर साथ छोड़कर भाग जाते हैं, अपने मतलब के लिए मित्रों को मुसीबत में डालने से भी नहीं झिझकते और समय-समय पर मित्र की कमजोरियों का अनुचित लाभ उठाने से भी नहीं चूकते।

× × ×

संजू और राजू विज्ञान के ऐसे ही मतलबी मित्र थे, जिनकी गिद्ध दृष्टि सदैव विज्ञान के केवल कंचन और कामनी पर ही जमी रहती थी। विज्ञान को इस बात का पता नहीं था कि वे वस्तुत: उसके मित्र नहीं, मित्र के रूप में आस्तीन के साँप हैं। वह तो उन्हें असली मित्र माने बैठा था।

यद्यपि उसकी पत्नी विद्या संजू और राजू के दुराचरण से शादी के पहले से ही परिचित थी, पर वह व्यर्थ में ही गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ना चाहती थी। परन्तु संजू और राजू को हद से आगे बढ़ते देख उसने निश्चय कर लिया था कि यदि विज्ञान को उनके चंगुल से छुड़ाने के लिए आवश्यक हुआ तो वह सबकुछ साफ-साफ बता देगी, जो उसके साथ घटा था।

विज्ञान वस्तुत: स्वभाव से अत्यन्त सरल और सज्जन व्यक्ति था, अत: वह संजू और राजू से मित्रता बढ़ाते समय यह सोच भी नहीं सका था कि कोई व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए मित्रता करके उसके साथ इस स्तर की धोखा-धड़ी भी कर सकता है। तभी तो वह इनकी मीठी-मीठी बातों में आ गया था।

जो स्वयं सरल, सज्जन और ईमानदार होता है, वह सबको अपने समान ही समझता है।

पर जब ज्ञान, सुदर्शन और विद्या के प्रयासों से उसे धीरे-धीरे यह विश्वास हो चला था कि संजू और राजू आदि चारों साथी उसके असली मित्र नहीं हैं, वे केवल स्वार्थ के ही साथी हैं, तो उसको उनसे अरुचि हो गई। अब वह एक क्षण भी उनके साथ नहीं रहना चाहता था।

× × ×

पर जबतक वह इस निर्णय पर पहुँचा था, तबतक बात बहुत आगे बढ़ चुकी थी। संजू और राजू ने धीरे-धीरे अपनापन दिखा-दिखाकर उसे ऐसे चक्रव्यूह में फँसा लिया था कि अब वह चाहने पर भी उनके चंगुल से छूटने की स्थिति में नहीं था। उन्होंने उसे अपने विश्वास में लेकर उसके व्यापार-धंधे सम्बन्धी गुप्त बातें तो जान ही ली थीं, उसे व्यक्तिगत रूप से भी ऐसे दुराचरण का शिकार बना लिया था कि जिनका रहस्य खुलने पर उसका व्यापारिक और पारिवारिक भविष्य अंधकारमय बन सकता था। अतः अब वह उनके विरुद्ध अपना मुंह नहीं खोल सकता था और उनका साथ भी नहीं छोड़ सकता था। बस, उसकी इसी कमजोरी का अनुचित लाभ संजू और उसके साथी उठा रहे थे।

वह मान रहा था कि उसे यह एक ऐसा हथियार हाथ लग गया है, जिसके बल पर वह विद्या और विज्ञान को जैसा चाहे वैसा नचाये और जीवन भर मनमाना रुपया भी वसूलता रहे।

इसी के बल पर उसने अपने साथियों पर भी अपना रोब जमा रखा था। कभी-कभी अभिमान में आकर वह अपने साथियों के बीच कहा भी करता था – "वह विद्या की बच्ची अपने आपको समझती क्या है ? विज्ञान से शादी क्या हो गई, अपने आपको महारानी ही समझने लगी है। बहुत देखे ऐसे करोड़पति ! बात-बात में व्यंग बाण छोड़ती रहती है, सीधे मुंह बात ही नहीं करती। देखो, उसदिन विज्ञान ने कैसा आदर सत्कार किया, पर उसने घास तक भी नहीं डाली। उल्टी चुंगटी ही भरती रही। यदि एक दिन मैंने उसे भी अपने साथ नचाकर नीचा नहीं दिखाया तो मेरा नाम संजू नहीं।"

राजू को संजू का इसप्रकार बार-बार कहना अच्छा नहीं लगता था। अतः उसका मुंह बन्द करने के लिए उसने व्यंग करते आगे कहा – "बेटा ! अधिक शेखी न मारा करो, नाना के आगे ननिहाल की बातें शोभा नहीं देतीं। यदि अपना भला चाहते हो तो उससे जरा बचकर ही रहना। पहले भी तो तुम चोट खा चुके हो ? अशू और अज्जू की बीबियों की बात और है, कहीं चनों के धोखे में कंकड़ नहीं चबा बैठना, वर्ना अभी तो सिर के बाल ही उड़े हैं, अब की बार बत्तीसों दाँत गायब हो जायेंगे। इतने जल्दी भूल गये गर्ल्स होस्टल की घटना ?"

झेंप मिटाते हुए संजू बोला – "अरे ! जाने भी दे यार उन बातों को। जब की बात जुदी थी, पर अब तो वह मेरे चंगुल में ऐसी फंसी है कि उसे भी नानी याद आ जावेगी। देखता हूँ अब वह मुझसे बचकर कहाँ जायगी ? यदि उसने कुछ भी गड़बड़ की तो विज्ञान सीधा जेल के सीखचों में होगा।"

× × ×

जब कई दिन तक विज्ञान नहीं पहुँचा तो उसके उन चारों साथियों को चिन्ता हो गई; क्योंकि वही तो एकमात्र उनके बीच पैसे खर्च करनेवाला व्यक्ति था।

सम्भावनाओं पर विचार करते हुए एक ने कहा – "सम्भव है वह इन दिनों कहीं बाहर गया हो ? पर यदि उसका बाहर जाने का प्रोग्राम होता तो या तो वह स्वयं कहकर जाता या अपने अचानक बने प्रोग्राम की खबर जरूर भिजवा देता। बीमार तो नहीं पड़ गया कहीं ? पर बीमारी की खबर भी तो नहीं दी ?"

दूसरा बोला – "बीमारी की खबर कौन भेजता ? विद्या तो हमारे पास खबर भेजने से रही। उसकी दृष्टि में हमारी औकात ही क्या है ?"

तीसरा बोला – "अरे भाई ! वह भावुक भी बहुत है, जल्दी ही लोगों के बहकावे-फुसलावे में आ जाता है। कहीं किसी और ने तो नहीं बहका लिया ? यदि वह किसी और के चक्कर में आ गया तो फिर अपना तो मजा ही किराकिरा हो जायगा।"

चौथे ने सलाह दी – "यहाँ बैठे धूल में लट्ठ मारने से क्या होगा ? कुशलक्षेम पूछने के बहाने एक दिन उसके घर पर ही चलकर उसे सम्भाल लेना चाहिए; पर ध्यान रहे उसकी बीबी बड़ी तेज-तर्राट है, कहीं अपमान न कर दे ?"

अन्नू की बात सुनकर संजू को आँखों के सामने एक क्षण को वह होस्टल वाला दृश्य फिर घूम गया, जिसमें विद्या और उसकी सहेलियों द्वारा उसकी अच्छी मरम्मत हुई थी तथा धक्का मारकर निकाल दिया गया था । स्मृतिपटल पर वह दृश्य आते ही पहले तो वह प्रतिशोध की भावना से भर गया, परन्तु अपने आपको सम्भालते हुए वह बोला – "अरे ! तुम भी कहाँ छोटी-मोटी बातों में पड़ गये हो, इतना तो सब चलता ही रहता है, यदि ऐसे मान-अपमान से डरने लगे तब तो तुम दुनियाँ में कुछ भी नहीं कर सकते । अरे उन बहादुरों की ओर भी तो देखो, जो सौ-सौ जूते खाय तमासा घुस के देखें ।"

ऐसा कहकर संजू ने मन में सोचा – "ऐसे मान-अपमान के भय से दूर-दूर भागने से थोड़े ही काम चलेगा । ये लोग तो यों ही बकते हैं, विज्ञान से मित्रता बनाकर रखनी है तो विद्या को भी पटाकर रखना ही पड़ेगा । अन्यथा यदि उसने विज्ञान को अपने विरुद्ध भड़का दिया तो अपना रोज-रोज का इतना खर्चा कैसे चलेगा ? तालाब में रहकर मगर से बैर थोड़े ही रखा जाता है । और फिर विद्या भी तो सरला से कहीं अधिक सुन्दर है । अतः उससे प्रेम सम्बन्ध बनाये बिना वह भी चंगुल में कैसे आयेगी ? डराना-धमकाना तो अन्तिम उपाय है, प्रेम प्रदर्शन से ही काम बन जाय तो इससे अच्छा और क्या है ?

यह विचार कर उसने अपने साथियों से कहा – कभी क्यों ? अभी चले चलते हैं, विज्ञान की कुशलक्षेम पूछने । जब जाना ही है तो 'काल करे सो आज कर' कहते हुए चारों ही साथी विज्ञान के घर को चल दिए ।

× × ×

घंटी की संकेत ध्वनि सुनकर जैसे ही विज्ञान ने दरवाजा खोला तो चारों साथियों को द्वार पर खड़ा देखकर एकक्षण को तो वह असमंजस में पड़ गया । "अरे ! ये तो यहाँ भी आ गये रस में विष

घोलने ! इन्हें तो डाँट-डपट कर ही भगाना पड़ेगा, पर घर आये अतिथि का अपमान ? यह भी तो ठीक नहीं है। किसी मनीषी ने ठीक ही तो कहा है – 'द्वार पर आये अतिथि का अनादर नहीं करना चाहिए, चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो ?"

अतः उसने कहा – "आओ मित्र आओ ! सवेरे-सवेरे अचानक यहाँ आने का कष्ट कैसे किया ?"

"इसमें कष्ट की बात ही क्या है ? तुम बहुत दिनों से क्लब नहीं आये तो हमारी चिन्ता स्वाभाविक ही थी, वहाँ बैठे-बैठे चिन्ता करने के बजाय सोचा – चलो ! घर चलकर ही कुशलक्षेम पूछ आते हैं।"

संजू कहे जा रहा था – "हमें चिन्ता हुई कि तुम कहीं बीमार तो नहीं पड़ गये, दुर्घटनायें भी आजकल आम बात हो गई है; पर तुम्हें बिल्कुल ठीक हालत में देखकर मन को संतोष हो गया।"

विद्या ने हल्की-सी चुटकी लेते हुए कहा – "हाँ, सो तो है ही, आप लोगों का चिंतित होना स्वाभाविक ही है, मित्र जो ठहरे ? एक बार बीबी भले भूल जाय, पर मित्र अपने मित्रों को थोड़े ही भूल सकते हैं। फिर आप लोगों के तो कहने ही क्या हैं ? विज्ञान जैसे भोलानाथ और लक्ष्मीकान्त मित्र मिलते ही कहाँ हैं इतनी आसानी से ? है न संजू !"

संजू ने अपमान का घूंट पीते हुए और हाँ में हाँ मिलाकर खुश करने की चेष्टा करते हुए कहा – "हाँ सो तो है ही, हम बड़े भाग्यशाली हैं, जो हमें विज्ञान जैसा मित्र मिला है और आप जैसी भाभी पाकर तो हमारे भाग्य ही खुल गये।"

संजू की चाटुकारिता रूप गेंद को वापिस उसी के पाले में फेंकते हुए विद्या ने कहा – "रहने भी दो, अधिक मक्खन मत लगाओ। अच्छा बोलो ! क्या चलेगा ? ठंडा या गर्म ?"

साथ ही विज्ञान ने कहा – "कहिए, और नास्ते में क्या मंगाया जाय ?"

संजू ने झेंपते हुए कहा – "नहीं, नहीं, अभी चाय नास्ते की जरूरत नहीं है।"

"क्यों संजू भाई ! क्या आप सभी काम जरूरत के हिसाब से ही करते हो ?" – विद्या ने फिर हल्की-सी चुटकी ली ।

विज्ञान और विद्या के इस अप्रत्याशित आदर भाव एवं व्यंग विनोद से संजू यह निर्णय नहीं कर पाया कि वास्तविकता क्या है ? इसकारण वह सशंकित बना रहा । उसे किसी मनीषी की यह उक्ति स्मरण हो आई कि 'स्त्री के चरित्र को और पुरुष के भाग्य को जब देवता ही नहीं जान पाते, तब पुरुषों की तो बात ही क्या है' ।

उसने सोचा – "इस विद्या से तो सदैव सावधान ही रहना होगा । राजू भी बार-बार यही कहता है ।

इसकी बातों में कितना तीखापन है, व्यंग के सिवाय सीधे मुंह बात ही नहीं करती । ठीक है, सब देख लूंगा ।" – सोचते-सोचते वह कुछ देर विचारों में उलझा रहा । चाय प्रस्तुत करते हुए जब विज्ञान के नौकर रामू ने उसका ध्यान भंग किया तो पास में ही खड़ी विद्या से वह बोला – "भाभी आप ठीक-ठाक तो हैं न ?"

विद्या ने उत्तर में कहा – "हाँ, वैसे तो सब ठीक ही है, पर....।"

पर क्या ? देखो, कोई बहाना नहीं चलेगा, तुम्हें और विज्ञान को कल के प्रोग्राम में तो आना ही पड़ेगा, समझे !"

विज्ञान की नस दबाने के उद्देश्य से विद्या को सुनाते हुए संजू पुनः बोला – "विज्ञान तुम इतने दिनों से नहीं आये, इसके पीछे कुछ 'दाल में काला' दिखता है । किसी और के चक्कर में तो नहीं आ गये ?"

अपनी सफाई देते हुए निःशंकता और निर्भयता के साथ विज्ञान ने कहा – "नहीं ऐसी तो कोई बात नहीं है मित्र ! पर इन दिनों कहीं जाने-आने का और किसी से मिलने-जुलने का मन ही नहीं हुआ ।"

व्यंग विनोद करते हुए अज्जू बोला – "क्या भाभीजी के प्यार-मोहब्बत में ऐसे फंस गये कि हम सबको बिल्कुल ही भूल गये ? कभी-कभी तो दर्शन दे ही दिया करो । तुम्हारे बिना तो महफिल में बहुत ही सूनापन लगता है ।"

राजू ने आदेश की भाषा में कहा – "ऐसा नहीं चलेगा विज्ञान ! तुम्हारे बिना तो हमारी महफिल का रंग ही फीका हो जाता है, सारा मजा ही किरकिरा हो जाता है । और हाँ सुनो ! कल तो

तुम्हें आना ही है, हर हालत में आना है। कल का प्रोग्राम तो तुम्हारी ही पसन्द का, केवल तुम्हारे लिए हो किया जा रहा है। जिसका नृत्य-गान देखकर तुम झूम पड़े थे, उसे ही क्लब में आमंत्रित किया है। उसका नाच-गान तो अच्छा है ही, रूप-रंग में भी वह किसी 'विश्व सुन्दरी' से कम नहीं है।

तुम्हें तो आना ही है, भाभीजी को भी साथ में लाना नहीं भूलना। हमें भी तो नाचने के लिए कोई साथ चाहिए न ? क्यों संजू ठीक है न ?"

"हाँ, भाई ! राजू ठीक ही तो कहता है। अकेले-अकेले क्या मजा आयेगा ?" संजू ने हाँ में हाँ भरते हुए कहा।

× × ×

विद्या को उनके हाव-भाव और भाषा से यह समझते देर नहीं लगी कि – "इन्हें विज्ञान की किसी खास कमजोरी का पता है और ये उस कमजोरी को उजागर करने का भय दिखाकर उसे दबाकर उसका अनुचित लाभ तो उठा ही रहे हैं, उसी चालाकी भरी चाल से मुझे भी दबाकर मेरा भी अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं।"

साथ ही वह यह भी भाँप गई कि – "सम्भवतः संजू में मेरे प्रति प्रतिशोध की भावना भी है। अतः ये सब मिलकर एकबार फिर मेरी इज्जत पर धावा बोलकर मुझसे बदला भी लेना चाहते हैं। अन्यथा ये मेरे ही सामने खुला चेलेंज कैसे दे सकते थे कि हमें भी कोई साथी चाहिए न ?

इसका तो साफ-साफ यही अर्थ है कि विज्ञान मेरे ही सामने उस आमंत्रित मेहमान महिला के साथ नाचे और मैं इन भेड़ियों के साथ..........। पर मैं ऐसा कभी नहीं होने दूँगी।

इसके लिए पहले मुझे विज्ञान को इनके बारे में सब कुछ सही-सही बताकर अपने विश्वास में लेना होगा, ताकि ये मेरे जीवन में रस में विष न घोल सकें। और विज्ञान को भी विश्वास दिलाना होगा कि तुम्हारे बारे में कोई कुछ भी कहे उसका मुझ पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतः तुम मेरी ओर से निश्चिन्त हो जाओ। तभी विज्ञान इनके दवाब से मुक्त हो सकेगा और ये लोग भी उससे अनुचित लाभ नहीं उठा सकेंगे।

दूसरे, व्यापारिक अनियमितताओं को नियमित करना होगा। इन अनियमित कामों में ऐसा लाभ ही क्या है ? आकुलता और अशान्ति की तुलना में कुछ भी तो हाथ नहीं लगता। कमाई का अधिकांश हिस्सा तो ऊपर के लेन-देन में ही चला जाता है, केवल अपराध बोध ही अपने पल्ले पड़ता है।

और मिलता भी हो तो ऐसी कमाई भी किस काम की, जिसमें शान्ति से बैठकर न खा सके और न सो सके। वैसे भी कौन-सी कमी रहनेवाली है, फिर रोज-रोज ये ब्लैकमेल के चक्कर·········।

नियमित काम करने से हमें तो लाभ ही लाभ है; पर संजू और उनके साथियों को हमारा सहयोग बन्द होते ही अवश्य ही आटे-दाल का भाव मालूम पड़ जायेगा। जरासी कमजोरी के कारण हमारे ही बल पर हमें ही अकड़ दिखाते हैं और जिसका नमक खाते हैं उसी की हाँडी में छेद करते हैं।

संजू बार-बार सींखचों के अन्दर बन्द कराने का जो भय दिखाता है, सो फिर मैं यह भी देख लूंगी कि कौन किसको सींखचों में बन्द कराता है। यदि यही हाल रहा तो वह दिन दूर नहीं जब दूसरों को जेल में बन्द कराने वाला स्वयं ही जेल में दिखाई देगा। कोई जमानत देने वाला भी नहीं मिलेगा। बड़ा दादागिरि करता फिरता है···············।"

उधर विज्ञान सोच रहा था कि – "मेरे बारे में विद्या से जो कुछ भी कहना हो कह लेने दो – विद्या ऐसी कोई नादान नहीं है जो मेरी असलियत को न समझे और इनके बहकावे में आ जावे। अतः एकबार सब तिया-पांचा हो लेने दो, ताकि बार-बार की झंझट ही न रहे। यदि मैं स्वयं ही विद्या को अपनी ये सब कमजोरियाँ बता दूँ, जिनका भय दिखाकर ये मुझे दबाते हैं, तो ऐसा कोई कारण नहीं, जो वह मुझे माफ न करे। रही बात व्यापार सम्बन्धी कागजातों की, सो उन्हें भी किसी तरह ठीक-ठाक करा लेते हैं। बस, फिर न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी।"

× × ×

विज्ञान वैसे तो बहुत ही प्रतिभाशाली व्यक्ति था, अतः जिस बात पर भी गहराई से विचार करता तो अच्छे निष्कर्ष पर हो

पहुँचता था, पर कुछ दिनों से संजू और राजू जैसे मित्रों के चक्कर में आ जाने से सुरा और सुन्दरी की ऐसी चाट लग गयी थी कि उसकी याद आते ही सब गुड़ गोबर हो जाता था।

सुरा और सुन्दरी के व्यसन वस्तुतः ऐसे खोटे व्यसन हैं कि उनकी एकबार चाट लग जाने पर आसानी से नहीं छूटते।

जब उसे संजू का अतिआग्रह भरा बुलावा मिला, जिसमें उसकी ही मनपसंद नृत्यांगना को आमंत्रित किया गया था, तो वह स्पष्ट मना नहीं कर सका, उसका मन फिसलता और पैर लड़खड़ाते देख विद्या को बाध्य होकर उसके सभी मित्रों का कच्चा चिट्ठा विज्ञान के सामने खोलना ही पड़ा।

उसने बताया – "विज्ञान ! तुम्हें क्या पता है – ये भोलाभाला दिखनेवाला संजू वही संजू, है जिसने गर्ल्स होस्टल की दीवाल लांघ कर सुनीता की इज्जत खराब की थी और इस राजू के बारे में तुम्हें क्या बताऊँ – यह कितना बदतमीज है – पता है, इसने तो मेरे ऊपर ही डोरे डालने चाहे थे। वह तो मैं ही थी, जो इसके चंगुल से बच पायी थी।

सौभाग्य से मेरे पापा को मेरे ऊपर पूरा भरोसा था, अतः मैंने निर्भय होकर उनको वह सबकुछ साफ-साफ बता दिया था, जो-जो इसके और मेरे बीच घटा था। अन्यथा इसने तो मुझसे भी ब्लैक-मेल करने की कम कोशिश नहीं की।

बेचारे अन्नू व अज्जू यद्यपि सीधे-सादे हैं, पर इनके चक्कर में पड़कर उन्होंने भी अपनी गृहस्थी बर्बाद कर ली है। जो तुम्हारी प्रिय नृत्यांगना आज आनेवाली है, जानते हो वह कौन है ? वह अन्नू की ही धर्मपत्नी है। अन्नू एक गरीब आदमी जो ठहरा। ये सब मिलकर उसके सीधेपन और गरीबी का नाजायज फायदा उठा रहे हैं और उसी के सामने उसकी पत्नी की कमर और गले में हाथ डाल कर उसके साथ नाच-नाच कर उसकी इज्जत लूट रहे हैं।

कल्पना करो, उसके दिल पर क्या गुजरती होगी ? पर बिचारा करे तो करे भी क्या ? मजबूरी में अपना मुँह नहीं खोल सकता। बैठा-बैठा सबके साथ एक नकली हँसी हँसता रहता है। मानो खुद पर ही हँस रहा हो और स्वयं से पूछ रहा हो कि "जो अपनी पत्नी

का पेट नहीं पाल सकता और उसकी रक्षा नहीं कर सकता, इज्जत नहीं पचा सकता, उसे क्या हक है शादी करने का ?"

विज्ञान यदि तुम अपना भला चाहते हो तो भूलकर भी इनके दबाव में नहीं आना, अन्यथा तुम्हारी और मेरी भी ये अन्नू जैसी ही दुर्दशा करके छोड़ेंगे।

और सुनो, इनसे डरने की कोई बात नहीं, अपने घर की बात अपन आपस में ही निबट लेंगे। भूलें किससे नहीं होतीं; पर सुबह का भूला शाम को भी यदि घर आ जावे तो भूला नहीं कहलाता।

इतना कहते-कहते विद्या का गला भर आया, वह आगे कुछ नहीं बोल सकी।

विद्या की दृष्टि में दृष्टि मिलते ही विज्ञान की भी आँखें पश्चाताप के आँसुओं से गीली हो गईं। ▣

७

किसी समस्या विशेष में उलझे विज्ञान को चिन्तन मुद्रा में बैठा देख उसकी पत्नी विद्या ने हँसी के मूड में कहा – "अब क्या सोच रहे हो प्राणनाथ ! इतनी बड़ी समस्या सुलझने के बाद अब और किस उलझन में उलझ गये हो ? जरा घड़ी तो देखो, क्या बज रहा है ? क्या आज नहाने से लेकर खाने तक सभी कामों की छुट्टी कर दी है ? और हाँ, एक दिन आप यह भी तो कह रहे थे कि अब मैं प्रतिदिन जिनमन्दिर में पूजन करने और प्रवचन सुनने जाया करूँगा ? क्या हुआ उस संकल्प का ?"

विद्या ! आज वर्षों बाद तुम्हारी प्रसन्न मुखमुद्रा पर झलकते रूप लावण्य को देखकर मैं सोच रहा था – "क्या उदासीनता सचमुच सौन्दर्य की शत्रु है ? जिसने मेरी प्रिया के सौन्दर्य को मुझसे छीन लिया था ? ऐसी उदासीनता और चिंता जीवन में कभी किसी को न हो । पर तुम्हारी उदासीनता और चिन्ता का कारण और कोई नहीं, मैं स्वयं ही था ।

भला कोई पत्नी अपने पति को सुरा और सुन्दरी के हाथ की कठपुतली बना देखते हुए प्रसन्न और निश्चित कैसे रह सकती है ?"

विज्ञान के सन्मार्ग पर आ जाने से विद्या आज सर्वाधिक प्रसन्न थी । जब उसकी प्रसन्नता हृदय में नहीं समाई तो उसके मुखमण्डल पर बिखरने लगी थी । वह सुन्दर तो थी ही, उसकी प्रसन्नता ने उसकी सुन्दरता पर और भी चार चाँद लगा दिये थे । इससे उसका सौन्दर्य सौ गुना हो गुलाब की तरह खिल उठा था ।

विद्या की प्रसन्नता से बढ़े हुए सौन्दर्य को देखकर विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका था कि मुख का सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य-प्रसाधन प्रसन्नता ही है ।

"काश ! संजू और उसके साथी भी अपनी ये आदतें छोड़ दें, उस दल-दल से निकल कर सन्मार्ग पर आ जावें तो उनके परिवार

की भी ढेरों खुशियाँ लौट सकती हैं और वे भी हम जैसे ही प्रसन्न और सुखी हो सकते हैं।"

ऐसा कहते हुए उसने आगे कहा – "क्यों न इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया जाय ?"

विद्या ने कहा – "विज्ञान ! तुम्हारा विचार तो सर्वोत्तम है, परन्तु..........."

बीच में ही विद्या के मुंह की बात छीनते हुए विज्ञान बोला – "देखो विद्या ! तुम्हारी किन्तु परन्तु अभी नहीं चलेगी ! तुम्हारी अपेक्षा उनका दुख-दर्द मैं अधिक महसूस कर रहा हूं। वे अभी सब तरफ से असहाय हैं। एक तो दुर्व्यसनों के कारण दिन-प्रतिदिन उनकी घटती कार्यक्षमता; दूसरे, कुपोषण के कारण आये दिन बीमारियों का प्रकोप; तीसरे, अर्थाभाव के कारण परस्पर पारिवारिक कलह और मानसिक अशान्ति – इन सबके कारण उनका जीवन नरक बन रहा है नरक !

यदि ऐसी स्थिति में भी उन्हें नहीं सम्हाला गया तो उनकी तो जो दुर्गति हो रही है सो हो ही रही है, वे अपन लोगों को भी पुनः किसी धर्मसंकट में डाल सकते हैं। मरता क्या नहीं करता। अतः उनको संभालना भी तो उतना ही जरूरी है, जितना पूजन-पाठ। भले ही इसके लिए अपने को कुछ भी त्याग – समर्पण क्यों न करना पड़े ? उन्हें भी उस संकट से उबारना ही होगा।"

विज्ञान का संजू और उनके साथियों के प्रति ऐसा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार देखकर विद्या फिर सशंकित हो उठी। उसे ऐसा विचार आया कि "मेरे द्वारा संजू और राजू के बारे में इतना सबकुछ स्पष्ट बता देने पर भी विज्ञान को क्रोध आने के बजाय उल्टी उनके प्रति इतनी गहरी सहानुभूति है, इतनी हमदर्दी है, इससे तो ऐसा लगता है कि अभी भी कुछ दाल में काला है, अभी भी विज्ञान के मन का झुकाव उधर को ही है, वहाँ से उनका मन पलटा नहीं है। अन्यथा इतना सब सुनने के बाद तो उसे आग-बबूला हो जाना चाहिए था। खैर !"

एक ठंडी सांस लेते हुए उसने फिर सोचा – "चलो कोई बात नहीं, अभी उनके प्रति सहानुभूति ही तो दिखाई है, पुनः पूर्ववत् उनके साथ उठने-बैठने और राग-रंग में सम्मिलित होने की बात तो नहीं कही। संभव है केवल सहानुभूति और करुणा की भावना ही हो; ये

सज्जन और भावुक तो हैं ही। अतः थोड़ा धैर्य से काम लेना चाहिए। शंका-आशंकायें प्रगट करने में व्यर्थ ही बनी-बनाई बात बिगड़ सकती है।"

ऐसा विचार कर विद्या ने कहा – "यह अपने लिए कौनसी बड़ी समस्या है ? जिसके लिए आप इतने चिंतित हैं। यदि आपके मन में उनके प्रति ऐसी ही सहानुभूति है, करुणा है और आप उनकी सहायता करना चाहते हैं तो अवश्य करिये, मेरी भी इसमें सहमति है। सौभाग्य से इसके लिए अपने पास कोई कमी भी नहीं है; पर इसके लिए आपको स्वयं वहाँ जाने की जरूरत नहीं है। मैं आपको अभी वहाँ जाने भी नहीं दूंगी। पराये मन को कोई क्या जाने ? क्रोध-वश यदि वे लोग अनर्थ कर बैठे तो ?"

"नहीं, नहीं····विद्या ! वहाँ मुझे स्वयं ही जाना पड़ेगा, मेरे जाये बिना काम नहीं चलेगा। मुझे केवल आर्थिक सहयोग ही नहीं करना है और भी बहुत कुछ करना है। तुम नहीं समझ सकोगी अभी; क्योंकि तुम्हारे मन में उनके प्रति अभी आक्रोश है, घृणा है, क्षोभ है और है अविश्वास की भावना। होना भी चाहिए; क्योंकि किसी असहाय, अबला के साथ यदि कोई ऐसा अन्याय करता है, उसकी मजबूरी का अनुचित लाभ उठाने जैसा कुत्सित कार्य करने की कुचेष्टा करता है तो उसके प्रति प्रतिशोध की भावना स्वाभाविक ही है। पर **किसी को सुधारने या सन्मार्ग पर लाने का उपाय घृणा नहीं है।** सन्मार्ग पर लाने के लिए तो उन्हें अपनाना पड़ेगा, अपना बनाना पड़ेगा।"

विद्या सोचती है – "विज्ञान बुद्धिमान है, प्रतिभाशाली है, भाषणकला में भी निपुण है; अतः बातों की तो उसके पास क्या कमी ? पर मैं उसकी इन बातों में आकर उसे पुनः उसी दल-दल में जाने को 'हाँ' कैसे कह सकती हूँ ? पर मेरे ना करने से भी क्या होगा ? वह जिद्दी भी तो कम नहीं है। जो ठान लेगा, वही करके छोड़ेगा, क्या करूँ ?"

विज्ञान ने विद्या के चेहरे से ही उसके अन्तर्मन में हुए अन्तर्द्वन्द्व को पहचान लिया। अतः विद्या कुछ कहे, इसके पूर्व ही उसने अपनी सफाई देते हुए कहा – "विद्या ! मैं वहाँ जाने के पहले तुम्हें यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि तुम मेरी ओर से पूर्ण निश्चिन्त हो

जाओ। अब मैं काजल की कोठरी में जाकर भी उसके धब्बों से बचकर रहूँगा; पर मैं जाऊँगा अवश्य।"

विद्या ने उसके उत्तर में विनम्रभाव से कहा – "प्राणनाथ! मुझे आप पर पूर्ण विश्वास है, मैं आपके हृदय की सरलता से भली-भाँति परिचित हो गई हूँ; पर ....।"

मुँह की बात छीनते हुए विज्ञान ने कहा – "पर क्या? वे मेरी सरलता का फिर दुरुपयोग करेंगे, मुझे किसी चाल में फँसा लेंगे? यही न, भूलें किससे नहीं होती, पर...." "नहीं विद्या ऐसा कुछ न सोचो। वे भी इतने बुरे नहीं हैं।"

विद्या ने अपना स्पष्टीकरण देते हुए कहा – "मेरा कहना यह नहीं है और न मैं अभी उन पर कोई अविश्वास ही कर रही हूँ। मेरा कहना तो यह है कि यह इतनी बड़ी समस्या नहीं है, ऐसा कोई बहुत बड़ा काम भी नहीं है, जिसके लिए आप इतने उत्सुक हो रहे हैं, धीरे-धीरे शान्ति से सब हो जायगा। ये दुर्व्यसनों की तो आदतें ही ऐसी होती हैं, जो धीरे-धीरे ही जाती हैं। अतः इस काम के लिए आपको व्यर्थ ही अपना समय और शक्ति खराब करने की जरूरत नहीं है।"

"विद्या! तुम मुझसे यह जो कुछ भी कह रही हो, उसके बारे में एकबार पुनः इस दृष्टि से विचार करो कि मानो मैं आज भी उनका वैसा ही दुर्व्यसनी साथी हूँ। क्या उस परिस्थिति में भी तुम्हारे चिन्तन की यही मनःस्थिति रहती? यदि नहीं, तो मुझे इस कार्य को एक महत्त्वपूर्ण कार्य मानकर करने दो। 'धीरे-धीरे सब हो जायगा' – यह कह कर उपेक्षा मत करो।"

एक महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुए विज्ञान ने कहा – "देखो, विद्या! **कोई भी काम अपने-आप में छोटा या बड़ा नहीं होता। काम तो केवल काम होता है। काम को छोटा या बड़ा मानते ही उसकी सफलता की संभावना ही क्षीण हो जाती है।**

यदि काम को छोटा समझ लिया गया तो उस काम को करने का मन ही नहीं होता और यदि मन मारकर किया भी तो स्वभावतः न उसमें रुचि होगी, न उत्साह और न उस पर उतना ध्यान भी दिया जा सकेगा, जितना उसकी सफलता के लिए अपेक्षित होता है।

यदि काम को बड़ा समझ लिया गया तो 'इतना बड़ा काम मेरे वश की बात नहीं' इस विचार से उसे करने की या उसकी जिम्मेदारी अपने हाथ में लेने की हिम्मत ही नहीं होती।

जबकि, किसी भी काम में सफलता प्राप्त करने के लिए श्रम, साहस, समय और ध्यान का पूरा केन्द्रीकरण आवश्यक होता है।

विद्या ! इसी से संबंधित आज दूसरी समस्या है, उन नन्हें-मुन्ने बालकों की, जो भारत के भावी भाग्यविधाता हैं और हैं समाज के भावी कर्णधार !

आज बालकों को न तो कोई नैतिक शिक्षा मिल रही है और न कोई धार्मिक संस्कार ! इसके बदले उन्हें आज मिल रही है विशुद्ध अर्थकरी शिक्षा और पश्चिमी भोग प्रधान भौतिक संस्कार।

यदि यही स्थिति रही तो सोच लो – कैसे होंगे ये भारत के भावी भाग्यविधाता और समाज के भावी कर्णधार ?

यही भूल तो मेरी शिक्षा और संस्कारों के सम्बन्ध में हुई थी, क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि मुझको राह पर लाने के लिए तुम्हारे साथ ज्ञान और सुदर्शन को भी कितने पापड़ बेलने पड़े ? जरा कल्पना तो करो, यदि वे इस दिशा में प्रयत्न नहीं करते तो आज मेरी स्थिति क्या होती ?

विद्या ! बालकों के शिक्षा और संस्कारों के क्षेत्र में पुरुषों की तुलना में महिलाएँ अधिक काम कर सकती हैं, माँ को बालक की प्रथम पाठशाला कहा जाता है। अतः महिलाओं में जागृति लाने से यह काम तुम्हारे द्वारा अच्छी तरह हो सकता है ?"

अपने मित्र संजू और उसके साथियों को सन्मार्ग पर लाने तथा उनका जीवन सुखी बनाने के विज्ञान के दृढ़ संकल्प और पवित्र भाव को देखकर विद्या ने भी विज्ञान का हर तरह से सहयोग करने का मानस बना लिया था।

अतः विज्ञान के विचारों में अपनी सहमति प्रगट करके वह अपने घरेलु काम में लग गई। □

८

यद्यपि अब विज्ञान का हृदय पूरी तरह परिवर्तित हो गया था, पर उधर संजू और उसके साथियों को इसका क्या पता ? अतः वे अभी भी उसके आने की आशा लगाये बैठे थे ।

संजू ने आशा बंधाते हुए साथियों से कहा – "देखो, 'जबतक श्वांसा तब तक आशा', अपनी वांछित वस्तु को पाने के लिए जीवन की अन्तिम श्वांस तक भी लोग आशान्वित रहते हैं; अतः हताश होकर हिम्मत न हारो। जो भी मैंने तुम्हें गुरुमंत्र बताये हैं, तदनुसार अपने प्रयत्न चालू रखो ।

भाई ! आशा से आसमान लगा है, अतः इतने जल्दी निराश होने की जरूरत नहीं है । मुझे तो पूरी-पूरी आशा है कि विज्ञान एक न एक दिन अवश्य आयेगा ।"

यद्यपि संजू साथियों को दिलासा दे रहा था, ढाढस बंधा रहा था, पर स्वयं अन्दर से टूट चुका था । वह सोचता था कि – "एक तो विद्या सुन्दर भी बहुत है और चतुर भी कम नहीं है । वह विज्ञान को इस तरह मोह लेगी कि उसका मन यहाँ-वहाँ-कहीं भटकेगा ही नहीं । जो मनोरंजन के साधन होटलों और क्लबों में मिलते हैं, वह उनसे भी कहीं अच्छे साधन घर में ही जुटा लेगी । उसे क्या नहीं आता ? नाचना-गाना-बजाना सभी में तो निपुण है वह; इसलिए यद्यपि अब उसकी आशा करना तो पागलपन ही है; पर यदि ये मेरे साथी भी निराश हो गये, हिम्मत हार गये तो अपना तो जीना ही दूभर हो जायगा । अपन कहीं के न रहेंगे, न घर के न घाट के । अतः किसी तरह इन्हें बहला कर तो रखना ही होगा ।" यह विचार आते ही वह संभलता हुआ साथियों से बोला – "आयेगा कैसे नहीं ? यदि नहीं आयेगा तो मैं जाकर ले आऊंगा, तुम लोग निश्चिंत रहो ।"

संजू और राजू को तो ऐसा लगा जैसे उन्हें कोई खोई हुई निधि मिल गई हो; क्योंकि विज्ञान के न आने से वे ही अधिक प्रभावित हुए थे । आदतें तो वैसी ही थीं और अर्थाभाव के कारण उनकी पूर्ति शतांश भी संभव नहीं हो पाती थी । होती भी कहाँ से ? जिनको दो टाइम की रोटियाँ नसीब न हों, वे सुरा-सुन्दरियों के शौक पूरे कहाँ से करेंगे ?

संजू की बात का समर्थन करते हुए अज्जू ने कहा – "वह आयेगा कैसे नहीं ? जिसे एक बार भी सुरा और सुन्दरी का रस लग जाता है, चाट लग जाती है, उसे फिर उसके बिना चैन नहीं पड़ती ? उसे तो उसकी हर पल याद आती रहती है। उसे कोई रस्सी से भी बाँधे तो भी वह नहीं रुक सकता। यह तो व्यसन ही ऐसा है। अतः वह आयेगा, जरूर आयेगा।"

बीच में ही राजू बोल पड़ा – "कोई कुछ भी कहे, कैसी भी कसमें दिलाये, रुकेगा तो नहीं, पर उसकी भी अपनी समस्याएँ हैं, वह उनसे जूझ रहा होगा ?"

हाँ में हाँ मिलाते हुए अन्नू ने कहा – "हाँ भाई ! विज्ञान तो बिचारा स्वयं भी आना ही चाहता होगा, पर वह अपनी बीबी विद्या से निगाह बचाकर निकल पाये तब न ?"

× × ×

बहुत दिनों बाद एक दिन जब विज्ञान अनायास ही संजू और उनके साथियों की महफिल में पहुँच गया तो उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहा।

संजू ने कहा – "देखो, मैंने कहा था न ? कि वह एक न एक दिन अवश्य आयेगा। यहाँ नहीं आयेगा तो कहाँ जायेगा ?"

अज्जू ने भी छाप लगाई – "अरे भाई ! यह महफिल का आनन्द ही ऐसा है, जो एकबार यहाँ आ जाता है, उसका अन्य जगह कहीं मन ही नहीं लगता।"

सभी ने विज्ञान के शुभागमन पर हर्ष प्रगट किया। विज्ञान ने भी उनके प्रति अपनापन दिखाते हुए उनसे कुशलक्षेम पूछी। सामान्य औपचारिकता के बाद विज्ञान ने कहा – "इन दिनों आप लोगों को किसी प्रकार की कोई खास परेशानी तो नहीं रही ? यदि किसी को कोई तकलीफ हो तो निःसंकोच बतायें। मैं आपका अपना साथी हूँ। साथी कहते ही उसे हैं, जो सुख-दुःख में समान रूप से साथ दे। यदि आप मुझे अपने कष्ट नहीं बतायेंगे तो फिर किसे बतायेंगे ?"

इतना सहानुभूतिपूर्ण प्रेम का व्यवहार पाते ही उन्हें अपने सुख-दुःख सुनाने का भाव जागृत हो गया और एक-एक ने अपने दिल का दर्द प्रगट कर दिया।

संजू ने कहा – "और तो सब ठीक ही है, पर सबको तुम्हारी बराबर याद आती रही। पारिवारिक परेशानियां भी इन दिनों कुछ अधिक ही रहीं। अन्नू और अज्जू की पत्नियां सरला और सुनीता यदि अपने कुल की आन लिए घर में ही दुल्हन बनी बैठी रहतीं तो उनके तो बच्चे ही भूखों मर जाते; क्योंकि ये दोनों तो इन दिनों बीमार रहने से काम पर ही नहीं जा पाये।

डॉक्टर कहते हैं कि मदिरा पीना बंद किए बिना अन्नू के पेट की बीमारी ठीक नहीं हो सकती, इसके लीवर पर सूजन आ गई है और अज्जू के फेफड़े खराब हो रहे हैं, सिगरेट छोड़े बिना इसकी खांसी ठीक नहीं हो सकती। तथा इनका कहना यह है कि यदि हम एक दिन भी नहीं पीते तो हमारे हाथ-पाँव ही नहीं चलते, हम कोई काम ही नहीं कर सकते। इस कारण ये दोनों सबसे अधिक परेशान हैं। वह तो इनकी पत्नियाँ ही अपने दिल पर पत्थर रखकर, अपना मन मारकर जैसे-तैसे इनके परिवार का पेट पाल रही हैं।"

अपनी बात चालू रखते हुए संजू ने आगे कहा – "मेरा और राजू का तो कहना ही क्या है? घर में न किसी को हमारी चिन्ता है और न हमें किसी की चिन्ता? जब जो जहाँ से मिल गया, खाया-पिया और जमीन के बिछौना पर आसमान का चादर ओढ़कर आराम से कहीं भी सो गये। बस, इन दिनों भगवान की इतनी कृपा अवश्य है कि सुबह से शाम तक कोई न कोई आँख का अंधा और गांठ का पूरा मिल ही जाता है, जिससे हमारा भी काम चल जाता है और जो कुछ बचता है सो हम सरला और सुनीता की भेंट चढ़ा देते हैं। सो अन्नू और अज्जू का भी काम चल जाता है। इसप्रकार सब भगवान के भरोसे चल रहा है।"

विज्ञान को अपने चारों साथियों की यह दुर्दशा देखकर हृदय में भारी वेदना हुई। उसने एक-एक को अलग-अलग बुलाकर भी उन की सभी परेशानियों को खूब ध्यान से सुना और उन्हें उस संकट से उबारने के लिए हरप्रकार का पूरा-पूरा सहयोग करने का आश्वासन दिया।

उसने सोचा – "संजू और राजू के माता-पिता और भाइयों ने अभीतक केवल इन्हें आदेश, उपदेश और डरा-धमका कर ही सन्मार्ग पर लाने की कोशिश की है, इन्हें सदा दुतकारा ही है, कभी अपनाने की कोशिश नहीं की।

वस्तुतः बात यह है कि केवल आदेशों और उपदेशों की भाषा से कभी कोई सुधर नहीं सकता। किसी भी व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाने के लिए पहले उसको अपने विश्वास में लेना और अपना विश्वास उसे देना आवश्यक होता है। उसे अपनाना पड़ता है, अपना बनाना पड़ता है। जब उसे यह विश्वास हो जाये कि यह व्यक्ति मेरा हृदय से हितैषी है और मात्र मेरे हित के लिए ही अपना सर्वस्व समर्पण कर रहा है, तब फिर वह स्वतः उसके सामने आत्मसमर्पण कर देता है। और उसकी प्रत्येक बात मानने को तैयार हो जाता है।

अतः इन दोनों के लिए तो इनके माता-पिता और भाई-बन्धुओं से मिलना होगा और उन्हें यह सब बताना होगा। तथा अन्नू और अज्जू को आर्थिक योगदान देकर उनका हृदय परिवर्तन करने का का प्रयत्न करना होगा।"

यह विचार आने पर विज्ञान ने अन्नू और अज्जू को तो आवश्यकतानुसार दवाइयों का और बच्चों की पढ़ाई का तथा आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली तथा संजू और राजू को भी उनकी पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने का आश्वासन दिया।

उसके इस प्रेम भरे व्यवहार से और निःस्वार्थभाव से किये गये आर्थिक सहयोग से वे सभी गद्गद् थे। विज्ञान के प्रति उत्पन्न हुआ उन सबका असंतोष एवं नाराजगी एक ही दिन में श्रद्धा में पलट गये।

□

९

कोई नहीं कह सकता कि किसके जीवन में कब क्या परिवर्तन आ जावे। पतित से पावन और पापी से परमात्मा बनने में भी देर नहीं लगती।

जो आज त्रिलोक पूज्य देवाधिदेव सर्वज्ञ परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हैं, वे ही कभी पतित, पापी और पशु-पर्याय में थे। अतः पाप तो घृणा योग्य है पर पापी नहीं।

पूजा-पाठ को ढोंग और पण्डिताई को पाखण्ड कहनेवाले तथा मन्दिर जाने का कभी नाम न लेनेवाले अपने मित्र विज्ञान को एक दिन मन्दिर में पूजा-पाठ करते और णमोकार मंत्र की माला फेरते देख ज्ञान को जहाँ एक ओर सुखद आश्चर्य हो रहा था, वहीं दूसरी ओर उसे अपनी आँखों पर सहसा विश्वास नहीं हो पा रहा था कि क्या वस्तुतः यह वही विज्ञान है, जिसे कभी मन्दिर के नाम से चिढ़ थी, जयजिनेन्द्र के नाम से नफरत थी?

ज्ञान सोच रहा था – आज यह सूरज पश्चिम से कैसे निकल आया? कहीं यह विज्ञान की ही शक्ल-सूरत का कोई और तो नहीं है? नहीं, नहीं; है तो यह विज्ञान ही। पर यह यहाँ आया कैसे? जिस वजह से यह सदैव मेरी हंसी उड़ाया करता था, आज उसी के चक्कर में स्वयं कैसे आ गया?

ज्ञान को आश्चर्यमिश्रित चिन्तन मुद्रा में देख उसका साथी सुदर्शन बोला – "कहो मित्र ज्ञान! यहाँ बीच रास्ते में इस तरह खड़े-खड़े क्या सोच रहे हो? क्या विज्ञान को मन्दिर में इसतरह भक्तिभाव से पूजा-पाठ करते देख तुम्हें भी आश्चर्य हो रहा है?"

"हाँ भाई सुदर्शन! बात तो आश्चर्य की ही है, ऐसा कौन परिचित व्यक्ति होगा, जिसे विज्ञान को इस रूप में देखकर आश्चर्य नहीं होगा?

आपने देखा नहीं, कलतक यह अपने सामने किसी को कुछ गिनता ही नहीं था, किसी की कुछ सुनता ही नहीं था, धार्मिक प्रवृत्तियाँ तो इसे सपने में भी नहीं सुहाती थीं। खान-पान में न भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार, न दिन-रात का विवेक। जब जो जी में आया, खाया-पिया और मस्त। मदिरा तक से तो इसे परहेज नहीं था। अतः आश्चर्य की बात तो है ही।"

ज्ञान की बातों को सुन सुदर्शन ने कहा – "भाई ! यह सब ठीक है, पर इसमें ऐसे आश्चर्य की कोई बात नहीं है। **जिसकी होनहार भली हो और काललब्धि आ गई हो, उसे पलटते देर नहीं लगती।** भगवान महावीर स्वामी के पूर्वभवों को ही देखो न ! मारीचि की होनहार भली नहीं थी तो तद्भव मोक्षगामी भरत चक्रवर्ती का पुत्र और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का पौत्र होकर भी अपने मिथ्या मार्ग से नहीं पलटा और जब भली होनहार का समय आ गया तो शेर की क्रूर पर्याय में भी सुलट गया, सन्मार्ग पा गया। यह तो समय-समय की बात है। क्या तुमने उस दिन आचार्यश्री के प्रवचन में वस्तुस्वातन्त्र्य का सिद्धांत नहीं सुना था; जिसमें उन्होंने चार अभावों के माध्यम से पर्यायों की स्वतन्त्रता समझाई थी ?"

सुदर्शन ने आगे कहा – "भाई ज्ञान ! जब पशु परमात्मा बन सकता है, सिंह जैसे क्रूर पशु को सम्यग्दर्शन हो सकता है, मारीचि जैसा मिथ्यादृष्टि महावीर बन सकता है तो विज्ञान ज्ञान की राह पर क्यों नहीं आ सकता ?"

"चलो, ठीक है सुदर्शन ! यदि तुम्हारी वाणी सही है तो तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर। पर अपने को तो अभी भी विश्वास नहीं हो पा रहा है। फिर भी हम तो यही कामना करते हैं कि हे भगवान ! उसे सद्बुद्धि आ जावे और वह अपना मानव-जीवन सफल करले, सार्थक करले।"

× × ×

ज्ञान अपने मित्र विज्ञान के इस अनायास हुये परिवर्तन से मन ही मन बहुत प्रसन्न था। **मित्र कहते ही उसे हैं जो अपने मित्र का हृदय से हितचिन्तक होता है और उसके भले के लिये सदा अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिये तत्पर रहता है।**

ज्ञान ने भी विज्ञान को सन्मार्ग पर लाने का अपनी शक्तिभर कोई भी प्रयत्न शेष नहीं छोड़ा था। धर्मवात्सल्य का स्वरूप ही ऐसा है। पर, **जबतक उपादान जागृत न हो, तबतक कोई भी व्यक्ति अपने विकल्पों के सिवाय पर में कर भी क्या सकता है?** इस वस्तु-स्वरूप का विचार करके ही ज्ञान ने अपने मन को समझा लिया था। **वस्तुस्वरूप की सही समझ ही वस्तुतः सुखी होने का एकमात्र उपाय है।**

ज्ञान विज्ञान की अपने मन के अनुकूल प्रवृत्ति देखकर मन ही मन भारी प्रसन्न तो था ही, कुछ-कुछ हँसी-मजाक के मूड में भी आ गया था। अत: विज्ञान को एक दिन पुजारी के रूप में पीले वस्त्र पहिने मन्दिर जाते देख उसे चिढ़ाने के उद्देश्य से बोला – "कहो, भाई विज्ञान! दूसरों की हंसी उड़ानेवाले आज स्वयं हंसी के पात्र कैसे बन बैठे? दूसरों को पाखण्ड के चक्कर मे फंसा कहनेवाले आज स्वय इस पाप-खण्डन के चक्कर मे कैसे पड़ गये, जो सबेरे-सबेरे संन्यासी बने मन्दिर जा रहे हो?"

अपनी झेंप मिटाते हुये विज्ञान बोला – "इसे भी तुम एक तरह का चमत्कार ही समझ लो न!"

ज्ञान – "ठीक है, चमत्कार ही सही, पर यह भी तो बताओ कि यह चमत्कार कब, कैसे और कहाँ हुआ? मुझे तुम्हारे मुख से वही सब तो सुनना है।"

"ठीक है भाई! मैं सुनाऊँगा, अवश्य सुनाऊँगा, तुम्हें नहीं सुनाऊँगा तो और किसे सुनाऊँगा; पर अभी नहीं, फिर कभी फुरसत में सुनाऊँगा। अभी तो पूजन का समय हो रहा है। सभी लोग मन्दिर में मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। आज सामूहिक पूजन करने का प्रोग्राम है न।" – ऐसा कहकर विज्ञान मन्दिर चला गया और ज्ञान अपने घर।

× × ×

ज्ञान के मन में विज्ञान में हुये इस जादुई परिवर्तन के बारे में जानने की उत्सुकता बराबर बढ़ती जा रही थी। वह जानना चाहता था कि आखिर यह हथेली पर आम जम कैसे गया? उसे विचार आया कि – "कहीं हम लोगों को खुश करने के लिये इसकी यह कोई

नाटकीय चाल तो नहीं है। अथवा किसी भय की आशंका से यह किसी मंत्र-तंत्रवादी के चक्कर में तो नहीं आ गया? कभी-कभी कुछ लोग लौकिक प्रयोजन की पूर्ति की अभिलाषा से अथवा किसी लोभ-लालच में पड़कर भी पूजा-पाठ करने लगते हैं – इसके साथ में भी ऐसा कोई चक्कर तो नहीं है?

नहीं, नहीं, वह इतना नादान तो नहीं है, जो ऐसी बातों में आ जाये और ऐसा कायर व लोभी भी नहीं है, जो किसी तरह के भय, आशा, स्नेह व लोभ-लालच में पड़कर यह सब आडंबर करे।"

ज्ञान किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पा रहा था। उसे पुनः विचार आया – "कुछ नहीं कह सकते। कभी-कभी अच्छे-अच्छे समझदार लोग भी इन मंत्र-तंत्रवादियों के चक्कर में आ जाते हैं।"

विज्ञान के हृदय परिवर्तन की बात अब भी ज्ञान को रहस्यमयी बनी हुई थी।

यद्यपि वह विज्ञान की पैनी बुद्धि, सरल हृदय और सज्जन स्वभाव से भलीभाँति परिचित था। पर महत्वाकांक्षायें और मानव स्वभाव की कमजोरियाँ क्या-क्या असंभावित परिकल्पनायें नहीं करा लेतीं। इससे भी वह अपरिचित नहीं था।

उधर सुदर्शन भी यही सोच रहा था – "विज्ञान का यह आचरण और व्यवहार क्या किसी कूटनीति का परिणाम भी हो सकता है? उसकी बातचीत व स्वभाव से ऐसा लगता तो नहीं है, पर कोई क्या जाने किसी के परिणामों को? परिणाम की गति भी बड़ी विचित्र व चंचल होती है। कब-कैसे हो जावें? कोई नहीं कह सकता।"

आत्मविज्ञान को समझने के लिए विज्ञान के पास रसायन-विज्ञान या भौतिकविज्ञान की भाँति ऐसी कोई प्रयोगशाला तो थी नहीं, जिसमें वह आत्मा-परमात्मा की सिद्धि के लिए कोई प्रयोग कर सके तथा जिस प्रयोगशाला में आत्मज्ञान का प्रयोग होता है, उससे वह अभी कोसों दूर था।

आत्मा की उपलब्धि के लिए तो केवल आगम, युक्ति और स्वानुभव ही असली प्रयोगशाला है, जिसके स्वानुभव में आ जावे, प्रतीति में आ जावे तो ठीक, अन्यथा उसके प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

विज्ञान बात-चीत के बीच-बीच में जो तर्क-वितर्क करता था, उससे भी ऐसा आभास नहीं मिलता था कि अभी उसे जिनागम के मूलतत्त्व में आस्था हो गई है। अतः यह कहना कठिन था कि उसके पूजा-पाठ करने के पीछे क्या रहस्य है ?

ज्ञान सोच रहा था – "संभव है बचपन में उसके दादाश्री द्वारा उसे जो पौराणिक कथायें सुनाकर संस्कारों के रूप में तत्त्वज्ञान के बीज डाले गये थे, वे ही अनुकूल वातावरण पाकर अंकुरित होने लगे हों। कोई किसी के मन को क्या जाने कि उसके मन में कब से, कैसा – क्या परिवर्तन हो रहा है ?"

ज्ञान भी विज्ञान में हो रहे अन्तर के परिवर्तन को कैसे पहचान सकता था। उसने तो विज्ञान को अबतक उसी रूप में देखा था, अतः उसमें अनायास हुये परिवर्तन को जानने की उसकी जिज्ञासा स्वाभाविक ही थी। अतः अगले दिन जब ज्ञान की विज्ञान से मुलाकात हुई तो सबसे पहले ज्ञान ने अपनी उत्सुकता प्रकट करते हुये कहा – "भाई ? आज तो तुम्हें अपने इस परिवर्तन की कहानी मुझे सुनानी ही होगी।"

अपने जीवन परिवर्तन की कहानी सुनाते हुए विज्ञान ने कहा – "मित्र ? नगर निगम के नियमानुसार हमारा कारखाना तो शाम आठ बजे ही बन्द हो जाता था। रात में अन्य व्यापारिक काम कुछ रहता नहीं था। अतः घण्टे-दो घण्टे को दोस्तों से मिलने-जुलने और मनोरंजन के लिए मैं क्लब चला जाता था, परन्तु मेरा क्लब जाना परिवार में किसी को भी पसंद नहीं था; क्योंकि वहाँ दोस्त लोग मिल-जुलकर मुझे यदा-कदा थोड़ी-बहुत मदिरा पिला दिया करते थे और कभी-कभी रमी (जुआ) खेलते-खेलते घर आने में देर भी हो जाती थी। इसकारण मेरी वाइफ (पत्नी) विद्या तो मुझसे रूठी-रूठीसी रहने लगी थी।

सुदर्शन भी नहीं चाहता था कि मैं संजू, राजू, अन्नू और अज्जू जैसे लोगों के साथ उठूं-बैठूं।

मेरे फैमिली डॉक्टर की भी यही सलाह थी कि मुझे अब हर हालत में अपने सभी शौकों को तिलांजलि देकर शान्ति से घर में ही अधिक से अधिक समय रहकर विश्राम करना चाहिए, अन्यथा मेरा शेष जीवन खतरे से खाली नहीं है।

प्रथम तो मेरा सद्‌भाग्य ही समझो कि इन सब कारणकलापों के मिलने से मेरा उस क्लब में जाना सदा के लिए बन्द हो गया, जिसके कारण मैं दुर्व्यसन में फंस गया था ।

दूसरे, सौभाग्य से उन दिनों आज की तरह घर-घर में ना तो टेलीविजन सेट थे और ना वी० सी० आर० एवं वीडीओ फिल्में, जिनके कारण जीवन के अमूल्य क्षण यों ही चले जाते हैं । दुर्भाग्य से यदि उन दिनों ये साधन होते तो कम से कम मेरे जैसे व्यक्ति की जिन्दगी के ये शेष महत्त्वपूर्ण क्षण भी निश्चित ही बर्बाद हो जाते ।

तीसरे, डॉक्टर की सलाह के अनुसार अब मुझे रोज-रोज सिनेमा जाना भी संभव नहीं था, इसकारण उस दोष से भी बच गया ।

पर अब मेरे सामने समय बिताने की समस्या मुंहबाये खड़ी थी । आठ बजे से घर बैठे-बैठे मैं करूँ तो करूँ भी क्या ? इतने जल्दी कोई नींद तो आती नहीं है । यही मेरी एक समस्या थी ।

देखो, विधि की विडम्बना ! इतने बड़े-बड़े गलत मार्गों से बच निकलने पर भी अभी मेरे दुर्भाग्य का अन्त नहीं आया था । तभी तो मैंने 'कुएँ से निकाला तो खाई में गिर गया' वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए पुनः अपने पतन का एक नया मार्ग खोज लिया था ।

अब मैं वाचनालय से बाजारू अश्लील कथा साहित्य घर ला-ला कर पढ़ने लगा । पहले तो मैं इन्हें मात्र नींद लाने के लिए पढ़ता था, पर बाद में मेरा मन इन काम-कथाओं में ऐसा उलझ गया कि उसने उल्टी मेरी नींद हराम कर दी । अब मैं रात के दो-दो बजे तक उन्हीं में आँखें गड़ाये रहता । जब देर से सोता तो सवेरे ९-१० बजे के पहले नींद खुलने का नाम ही नहीं लेती । इससे मेरी सारी दिनचर्या ही चरमरा गई थी ।

दैवयोग से वाचनालय तो एकबार लगातार एक सप्ताह तक बन्द रहा और अपन ठहरे पक्के बनिये, सो खाने-पीने और भोग-विलास में चाहे जितना खर्च कर दें; पर साहित्य खरीद कर कभी नहीं पढ़ते । और प्रतिदिन की आदत के अनुसार कुछ न कुछ पढ़े बिना नींद भी नहीं आती थी । अतः सोचा – 'चलो, आज दादाजी की अलमारी ही टटोलकर देखते हैं । संभावना तो कम ही थी; क्योंकि उन्हें तो केवल धार्मिक ग्रंथ और महापुरुषों के जीवन-चरित्रों को संग्रह करने

का ही शौक था। फिर भी सोचा – चलो देख लेते हैं, देखने में हर्ज ही क्या है, शायद अपने काम की कुछ पुस्तकें मिल जायें।"

वहाँ उपन्यासों और लौकिक कहानियों का तो काम ही क्या था ? पर हाँ, कुछ पौराणिक कथा-कहानियों की पुस्तकें अवश्य मिल गईं। 'न मामा से तो काना मामा ही भला' – ऐसा विचार कर उसे भी पढ़ना प्रारंभ कर दिया।

प्रारंभ में तो कुछ अटपटा लगा, क्योंकि उसकी शैली ही बिल्कुल पुरानी और अपरिचित थीं, परन्तु पढ़ना तो था ही, सो उसे ही मनोयोगपूर्वक पढ़ता रहा। जब गहराई में उतरने की कोशिश की तो बीच-बीच में आये आचार्यों के उपदेशों ने, नीति वाक्यामृतों ने और पुनर्जन्म के विचित्र कथानकों ने मुझे इस दिशा में सोचने के लिए बाध्य तो किया ही, साथ ही चित्त को भी अपनी ओर आकर्षित किया।

तब से मेरा मन अधिकांश इसीतरह के साहित्य पढ़ने में रमने लगा। इसप्रकार मेरे जीवन में आये इस परिवर्तन के पीछे मूलतः तो पौराणिक कथायें ही हैं, जिनमें पुण्य-पाप के फलों की विचित्रता का विस्तृत वर्णन था। पूर्वकृत पापोदय में बड़े-बड़े राजा-महाराजा और धर्मात्मा साधु-संतों को भी कैसी-कैसी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं तथा वर्तमान पाप-भावों में लिप्त प्राणियों को नरकों में कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़ते हैं।

उन दारुण दुःख भोगनेवाले जीवों के कारुणिक दृश्यों का चित्रण पढ़कर मैं पापाचरण से विरक्त तो हुआ ही, पर मेरे मन में मानसिक उतार-चढाव भी कम नहीं आये। मैं उनके सत्यासत्य के निर्णय करने में कई रात तो सो भी नहीं सका था। अन्ततः मैं इस निष्कर्ष पर तो पहुँच ही गया कि – "अपने किये पापों का फल प्राणियों को स्वयं भोगना ही पड़ता है और मैंने भी अपने जीवन में कोई कम पाप नहीं किये हैं। क्या मुझे भी यह सब नहीं भोगना पड़ेगा ?

धीरे-धीरे मेरी धारणायें व मान्यतायें बदलीं। मैं अबतक जो धर्म को ढोंग व पूजा-पाठ को पाखण्ड समझ रहा था, अब मेरी समझ में आया कि किसी पुजारी विशेष के पाखण्डी होने से पूजा-पाठ को ही पाखण्ड मान लेना कोई समझदारी का काम नहीं है। इसीतरह धर्मात्मा के भेष में कोई साधू ढोंगी भले हो, पर धर्म की साधना या

साधुपना ढोंग नहीं है। धर्म तो आत्मा व परमात्मा का स्वरूप है। अहिंसा, क्षमा, शान्ति व वीतरागता धर्म है और हिंसा, काम, क्रोध, राग-द्वेष आदि अधर्म हैं। इसमें ढोंग का क्या काम है ?

जिसतरह अग्नि का धर्म उष्णता है, पानी का धर्म शीतलता है, उसीतरह आत्मा का धर्म ज्ञाता-दृष्टा रहना है। ज्ञान आत्मा का धर्म है और अज्ञान अधर्म। वीतरागता आत्मा का धर्म है और राग-द्वेष करना अधर्म। क्षमा आत्मा का धर्म है और क्रोध अधर्म। इस धर्म में कहाँ आडम्बर है और कहाँ पाखण्ड ?

यही सोचते-विचारते धीरे-धीरे पता नहीं, मेरी रुचि कब-कैसे अनायास ऐसी बदली कि अब तो जब देखो, तभी उन्हीं कथानकों की चर्चा-वार्ता करने का मन होने लगा है। चाहे घर हो या दुकान, मंदिर हो या अन्य कोई स्थान, जब और जहाँ भी मौका मिलता है, घूम-फिर कर वही प्रसंग छिड़ जाता है। अब तो धार्मिक चर्चा-वार्ता करने में ही अधिक आनन्द आता है।"

जिसकी जिसमें लगन लग जाती है, फिर उसे सर्वत्र वही-वही दिखाई देता है। लगन का तो स्वरूप ही कुछ ऐसा है, देखो न, जब लड़का-लड़की की परस्पर लगन (सगाई) हो जाती है, तब से एक-दो दिन तो बहुत दूर, एक-दो घड़ियाँ भी ऐसी नहीं जातीं, जब एक को दूसरे की याद न आती हो। बस, यही स्थिति विज्ञान की उन पौराणिक-धार्मिक कथानकों चर्चा-वार्ताओं के बारे में हो गई थी।

बैठे-बैठे वह बोल उठता – "अहा ! पुराणों का भी अपना अलग आकर्षण होता है। भले ही वे आज की आधुनिक शैली में नहीं हैं, तथापि अपनी ओर आकर्षित करने की अद्भुत क्षमता उनमें है। पुराणों में मुख्यरूप से तो महापुरुषों के आदर्श चरित्र एवं उनके पूर्वभवों का ही वर्णन होता है, परन्तु बीच-बीच में नीतिवाक्यामृत ऋषियों के प्रेरणादायक उपदेश एवं धर्ममार्ग में लगाने और पापाचरण से हटाने के प्रयोजन से लिखे गये अनेक उपकथानक भी होते हैं।"

इसप्रकार पुराणों का परिचय देते हुए विज्ञान ने कहा – "भाई वे मुझे इतने रुचिकर लगे कि मैं कुछ ही दिनों में एक के बाद एक – अनेक पुराण पढ़ गया। उनके पढ़ने से मनोरंजन तो जो हुआ सो

हुआ ही, साथ ही अनेक नये तथ्य भी ध्यान में आये। अतीत को जानने की जिज्ञासा भी जागृत हुई और परलोक, नरक-स्वर्ग तथा जीवों के भव-भवान्तरों को जानने के बारे में भी जिज्ञासा जगी।

अभीतक मैं जिन स्वर्गों व नरकों को कल्पनालोक की वस्तुयें मान रहा था, अब वे यथार्थ की भावभूमि पर उतर आये।

"स्वाध्याय किये बिना किसी को कैसे पता चले कि वास्तविकता क्या है ? जब कि सारा जिनागम सर्वज्ञ व वीतराग की वाणी तो है ही, वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर भी आधारित है और युक्ति व स्वानुभव से भी सभी बातें सिद्ध हैं।

अभीतक मैं स्वर्गों व नरकों को किसी सनकी मस्तिष्क की उपज व कल्पनालोक की वस्तुयें मात्र मानता था, परन्तु पुराणों के अध्ययन करते समय नरकों की सिद्धि के पक्ष में एक तर्क मुझे यह भी ध्यान में आया कि – वस्तुतः इस मनुष्यलोक में तो ऐसी कोई व्यवस्था है नहीं जिससे हम जगत को सही न्याय दे सकें, अतः कोई एक स्थान ऐसा अवश्य होना चाहिए, जहाँ पूरा न्याय दिया जाता हो।

कल्पना कीजिए, किसी व्यक्ति ने यहाँ एक निरपराध प्राणी की निर्दयतापूर्वक हत्या की तो भी न्यायालय उसे फांसी की सजा देगा और यदि उसने इसीप्रकार की क्रूरता के साथ हजारों हत्यायें कीं तो भी न्यायालय के पास उसे एकबार फांसी का दण्ड देने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। जब यहाँ हजार हत्याओं के अपराध का कोई दण्ड-विधान ही संभव नहीं है तो प्रकृति में कहीं न कहीं तो ऐसी व्यवस्था होनी ही चाहिए न ? जहाँ एक से अधिक हत्यायें करनेवालों को तदनुरूप दण्ड व्यवस्था दी जा सके। बस, उसी स्थान का नाम नरक है, जहाँ पर दण्ड के रूप में नारकियों द्वारा तिल-तिल के बराबर देह के खण्ड-खण्ड करने से अनन्तबार मरणतुल्य दुख भोगना पड़ता है, इसकारण मर जाना चाहता है, पर नरकों अकाल मृत्यु न होने से मरता नहीं है।"

ज्ञान को विज्ञान की इसप्रकार की युक्तिसंगत और आगमसम्मत गम्भीरवार्ता और विचारधारा सुनकर भारी प्रसन्नता हुई, अतः उसने विज्ञान को हार्दिक बधाई दी।

× × ×

यद्यपि एक कार्य की निष्पत्ति में अनेक कारण मिलते हैं, और उनमें व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है, किन्तु अन्य कारणों में निमित्त कारण भी विस्मृत करने योग्य नहीं है; क्योंकि सज्जन पुरुष दूसरों के द्वारा किये गये उपकारों को भी कभी नहीं भूलते ।

विज्ञान भी भला अपने उपकार को कैसे भूल सकता था, जिनसे उसे सन्मार्ग मिला था ? अतः उसने सभी सहयोगियों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए इस अवसर पर अपने स्वर्गीय दादाश्री को विशेषरूप से स्मरण किया ।

उसने कहा – "मुझे बार-बार एक विचार यह भी आता है कि यदि हमारे घर में मेरे पूज्य दादाश्री द्वारा संगृहीत वह सत्साहित्य नहीं होता और उनके श्रीमुख से मुझे बाल्यकाल में वे पौराणिक कथा-कहानियाँ सुनने को नहीं मिली होती तो मेरा क्या होता ?

धन्य है वह साहित्य, जिसे पढ़कर और स्मरण कर मुझ में यह असाधारण परिवर्तन होता दिखाई दे रहा है और धन्य हैं वे प्रातः स्मरणीय दादाश्री, जिन्होंने यह सत्साहित्य जुटाया और मुझे जैनधर्म की कहानियाँ सुना-सुनाकर सन्मार्ग पर आने के संस्कार डाले ।

एक दिन रात्रि में विज्ञान बिस्तर पर पड़े-पड़े सोच रहा था – "काश ! ऐसे ही कोई कारण पाकर मेरे मित्र संजू, राजू और उनके साथी भी सन्मार्ग पर आ जावें । एतदर्थ भी कुछ प्रयास करना चाहिए । भले ही इसमें मुझे सर्वस्व समर्पण ही क्यों न करना पडे ।"

– यह सोचते-सोचते विज्ञान सो गया । □

(१०)

सेठ सिद्धोमल अपने इकलौते पुत्र संजू के दुर्व्यसन में पड़ जाने से बहुत दुःखी थे। उन्हें क्या पता था कि उनको आँखों का तारा एक दिन उन्हीं की आँखों को किरकिरी बन जायगा।

उन्होंने उसे सुयोग्य बनाने के लिए क्या-क्या नहीं किया था? और जो कुछ किया सो तो किया ही, एक योग्य पिता के सभी कर्त्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह वे अच्छी तरह कर सकें, एतदर्थ उन्होंने एक शोधछात्र की भाँति तत्सम्बन्धी साहित्य भी खूब पढ़ा था और जहाँ/जिस साधन से जो जानकारी उपलब्ध होने की संभावना दिखी, उसे प्राप्त करने के लिये वे सतत् प्रयत्नशील रहे।

अपनी समझ से तो उन्होंने उसके लालन-पालन, भरण-पोषण और शिक्षा-संस्कार आदि में कहीं कोई कमी नहीं रखी थी, फिर भी यह सब कैसे हो गया? भूल कहाँ हुई? कैसे हुई? उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

कभी-कभी अति सावधानी और अधिक चतुराई भी कष्ट कारक बन जाती है – इस तथ्य से अनभिज्ञ सेठ सिद्धोमल ने अपनी प्राप्त जानकारी के आधार पर संतान को सुयोग्य बनाने के कुछ मन-गढंत सिद्धान्त (फार्मूले) बना लिये थे, जो उनके लिए दुःखद सिद्ध हुए।

उनका मानना था कि 'संतान को कभी मुँहबोला नहीं बनाना चाहिए, अपने मुँह नहीं लगाना चाहिए, उसे अपने सिर नहीं चढ़ाना चाहिए। अपने हृदय में उसके प्रति कितना भी प्यार क्यों न हो; पर उस प्यार का प्रदर्शन उसके सामने कभी नहीं करना चाहिए। लाड़-प्यार केवल खिलाने-पिलाने तक ही सीमित रखना चाहिए। पढ़ाने-लिखाने और काम-काज सिखाने में काहे का लाड़-प्यार? वह संतान ही किस काम की, जो आँखों में न डरे? बच्चों की तो बड़ों से आँख में आँख मिलते ही आँख नीची हो जाना चाहिए। उसे

सब बातें आँख के इशारे में ही समझना चाहिए। पिता के पैरों की आहट आते ही घर में सन्नाटा न छाया तो वह काहे का अनुशासन ?

× × ×

हृदय तो आखिर हृदय ही है, चाहे पिता का हो या माँ का, वह पुत्र से प्यार किए बिना कैसे रह सकता है ? सेठ सिद्धोमल का हृदय भी संजू से प्यार करने के लिए मचल रहा था फिर भी वे हृदय पर पत्थर रखकर अपने बेटे के हित के लिये वे इन सभी सिद्धान्तों का कठोरता से पालन कर रहे थे। यद्यपि इन सिद्धान्तों पर चलना उनके लिए तलवार की धार पर चलने के समान कठिन था; इसके लिये उन्हें अपने अन्दर बैठे पिता के हृदय को कुचलना पड़ा था। उनका मन बार-बार अपने प्रिय पुत्र संजू पर ढेरों प्यार उड़ेल देने को होता था, हँसने-हँसाने का होता था, उसके साथ खेलने और उसे खिलाने का होता था, उसे चटकारे ले-ले कर किस्से-कहानियाँ सुनाने का होता था, अपनी ही थाली में एक साथ खाना खिलाने का होता था; पर वे अपने ही बनाये सिद्धान्तों का गला अपने हाथों से कैसे घोंट दें ? अतः मन मारकर पीछे हट जाते थे और मुख पर गंभीर भाव ले आते थे।

अनेक बार तो ऐसा भी हुआ कि जब संजू सो रहा होता तो चुपचाप दबे पांवों से उसके कमरे में जाते और प्यार भरा चुम्बन लेने के लिए अपना मुँह बेटे के मुँह के पास ले जाते, फिर जाग जाने की आशंका से तुरन्त पीछे हट जाते। सोते में प्यार से उसके माथे पर हाथ फेरते घंटों खड़े-खड़े उसके मुखमंडल को निहारते रहते और मन ही मन प्रसन्न होते रहते। पर उसके समक्ष उनका रुख वैसा ही कड़ा रहता।

उस बिचारे को क्या पता कि उसके पापा का उस पर कितना प्यार है ? उसने तो सदा उनका विकराल रुख ही देखा था, अतः वह तो सिंह के सामने बकरे की तरह भयभीत एवं भयाक्रान्त ही रहा करता था।

यद्यपि घर में वह भीगी बिल्ली की तरह रहता था, पर अपने साथियों में पहुँचते ही वह शेर बन जाता था। आखिर मनोगत भावनाएँ कहीं न कहीं और कभी न कभी तो प्रगट होंगी ही, कबतक दबाकर रख सकता था वह उन्हें ?

वे अपने पास-पड़ोस में बड़े गर्व से कहा करते थे – "हमारा संजू तो कभी हमारे सामने आंख उठाकर भी नहीं देख सकता, मुंह लगने की तो बात ही क्या ? कभी पूरा मुंह खोलकर बात भी नहीं कर सकता। संतान हो तो ऐसी हो।

यद्यपि घर में किसी बात की कमी नहीं, पर हम तो संजू को जेबखर्च हिसाब-किताब से ही देते हैं। मुंह-मांगा मनमाना रुपया-पैसा मिलने से लड़के बिगड़ जाते हैं। वह भी कभी सामने आकर रुपये पैसे मांगने को या अन्य कोई जिद करने की हिम्मत नहीं करता। जो दिया, सो चुपचाप ले लेता है। इस कलयुग में संजू जैसा लड़का चिराग ढूंढने नहीं मिलेगा।"

सेठ सिद्धोमल की बच्चों को शिक्षा दिलाने के सम्बन्ध में यह धारणा बन गई थी कि – "भला बिना पिटाई के भी कहीं विद्या आती है ?" वे कहा करते थे – "डंडा चाले धम-धम, विद्या आवे छम-छम", अतः उन्होंने स्कूल के सभी अध्यापकों से कह रखा था – संजू की हड्डी-हड्डी हमारी और चमड़ी-चमड़ी तुम्हारी। पर पीटते समय इतना ध्यान अवश्य रखना कि कहीं हड्डी न टूट जाय। यदि आप लोगों की बात न माने तो उधेड़ दो चमड़ी अच्छी तरह....! हम कुछ कहने वाले नहीं हैं।"

सेठ सिद्धोमल के इस अविचारितरम्य कथन का अध्यापकों ने भरपूर दुरुपयोग किया। अब घर-बाहर का कोई भी काम हो, सबसे पहले संजू पर ही नजर जाती थी, क्योंकि संजू से कोई भी काम कराने में उन्हें कोई खतरा नहीं रहा था। पिता का परमिट जो मिल गया था।

परिणाम यह हुआ कि संजू स्कूल जाने से ही जी चुराने लगा। आखिर वह कबतक चमड़ी उधड़वाता और वह भी पढ़ाई के कारण नहीं; मास्टरजी के घरेलू काम के कारण। या तो मास्टरजी के घर का काम करो, नहीं तो बन जाओ बेटा मुर्गा ! चाहे काम उसके वश का हो या न हो, करना तो पड़ेगा ही, वर्ना...........।

× × ×

बच्चों को यदि कोई मारे-पीटे, परेशान करे तो उसके लिए पिता ही सबसे बड़ी अदालत होती है, जहाँ वह अपनी फरियाद कर सकता; पर संजू के लिए उस अदालत के दरवाजे तो पहले से ही

बंद हो चुके थे। बस, उसके लिए तो अब केवल माँ ही उसकी सुप्रिम-कोर्ट थी। सो जब पानी सिर के ऊपर से जाता दिखता था तो माँ के सामने केवल उदास हो मुंह लटका कर बैठ जाता, बस इसी में माँ सब-कुछ समझ जाती और आम महिलाओं की भाँति बड़-बड़ाकर अपने गुबार निकाल लिया करती। इससे अधिक तो वह भी क्या कर सकती थी ?

एक दिन संजू की माँ सुधा ने अपने बीस वर्षीय बेटे संजू को उदास बैठा देखकर छोटे बच्चे की तरह अपनी गोद में उसका सिर रखकर माथे पर हाथ फेरते हुए कहा – "बेटा ! क्या बात है ? ऐसा उदास क्यों हो रहा है ? क्या पिताजी ने कुछ कहा है, डांटा-डपटा है ?" माँ के मुंह की ओर दयनीय दृष्टि से देखते हुए संजू कुछ कहना ही चाहता था कि उसे कहने का अवसर दिये बिना ही सुधा ने कहना चालू रखा – "उनकी तो आदत ही ऐसी हो गई है, जब देखो तब डाँटते ही रहते हैं। कभी प्यार से बोलना तो जानते ही नहीं हैं। चाहे किसी की गलती हो या न हो, बस उनके सामने तो मुंह सिये बैठे रहो तो ठीक; किसी ने कुछ कहा नहीं कि बरस पड़े। एक बोतल का नशा तो मानो बिना पिए ही चढ़ा रहता है। आखिर ! मेरे बेटे ने ऐसा कौन-सा अनर्थ कर डाला है ? बिचारा मुंह बोलना तक तो जानता नहीं है।"

संजू ने फिर डरते-डरते अपनी बात कहनी चाही, तो माँ ने कहा– "चल ! उठ !! हाथ-मुंह धोले और नाश्ता कर ! आने दे अभी तेरे पापा को – आज मैं उन्हें समझाकर ही रहूँगी। अरे ! अब बच्चा बच्चा नहीं रहा, बराबरी का हो चला है, पर कुछ सोचते ही नहीं हैं और यदि खुदा न खास्ता कभी मेरे मुंह से संजू के लिए कुछ निकल गया तो मुझे उपदेश झाड़ने बैठ जाते..............। बड़े प्यार के लहजे में कहेंगे – सुधाजी ! आखिर बच्चा है, बच्चे गल्तियाँ नहीं करेंगे तो क्या हम बूढ़े लोग करेंगे ? बच्चों पर ज्यादा गरम न हुआ करो।" हूँ हूँ..........! आने दो आज"............।

× • × ×

सेठ सिद्धोमल के घर में प्रवेश करते ही सुधा ने उन्हें आड़े हाथों लेते हुए पुनः कहना प्रारम्भ कर दिया – "अरे संजू के पापा ! जब मैं संजू को थोड़ा-बहुत डाँटती-फटकारती हूँ तो आप ही मुझे समझाते

और बड़े-बड़े पोथियों के पन्ने पढ़-पढ़ कर सुनाते हो। मुझे याद है एक बार आपने एक श्लोक सुनाया था –

"लालयेत् पंचवर्षाणि, दस वर्षाणि ताड़येत् ।
प्राप्ते तु षोडसे वर्षे पुत्रं मित्रं समाचरेत् ॥

याद है न ?"

"हाँ, हाँ सुधा ! देखो कितना अच्छा कहा किसी कवि ने !" – सिद्धोमल ने उत्साहित होते हुए कहा ।

" क्या खाक अच्छा कहा – यदि अच्छा कहा होता तो तुम यह क्यों भूल गये कि अब आपका बेटा बीस बरस का हो गया है ।" मैं पूछती हूँ – "और कबतक डाँटते-डपटते रहोगे इस तरह" ? सुधा ने अधिकार भाव से अपनी बात चालू रखते हुए आगे कहा – "देखते नहीं अब आपके बेटे की डाढ़ी-मूँछें निकल आई हैं । क्या अब भी दस-बारह वर्ष के बच्चों की तरह डाँटते-फटकारते रहोगे ?

नम्र होते हुए सिद्धोमल बोले – "डाढ़ी-मूँछों की कुछ न कहो, उनसे क्या फर्क पड़ता है । डाढ़ी-मूँछें तो बकरे के भी निकल आती हैं, क्या उनसे वह...............? पर, यह तो बताओ महाभाग ! कि मैंने आज इससे कहा ही क्या है ? जो किसी की बिना सुने जो मन आये कहे ही जा रही हो ! मैंने संजू से आज तो कुछ कहा ही नहीं, पिछले एक सप्ताह से भी मेरा संजू से आमना-सामना नहीं हुआ । पता नहीं वह एक सप्ताह से क्यों मुझसे आँखें चुरा रहा है; मैं इधर तो वह उधर, मैं उधर तो वह इधर – दूर-दूर रह रहा है । फिर यह डाँटने-डपटने की बात आई कहाँ से ?

मैं तो उससे कुछ पूछना भी चाहता था, पर उसका यह रुख देखकर मैंने जान-बूझकर बात नहीं की; क्योंकि मुझे अपने काम से ही फुरसत नहीं थी, अत: मैंने बात छेड़ना ठीक नहीं समझा । आज तो मैंने इस मनहूस की सबेरे से सूरत भी नहीं देखी, फिर यह बात आई तो आई कहाँ से ? मैं तुमसे यह पूछना चाहता हूँ ।" – जरा ! तेज स्वर में सिद्धोमल ने कहा ।

झुंझलाते हुए सुधा ने कहा – "फिर मनहूस कहा, क्या यह डाँटना नहीं है ?"

"अरे ! देवीजी ! पर, यह तो मैंने अभी कहा, इसके पहले क्या कहा ? जरा वह भी तो सुनूं ।"

"मैं कुछ नहीं जानती, यदि तुमने कुछ नहीं कहा तो फिर यह आज सबेरे से उदास क्यों है ? आज तो इसने खाना भी ढंग से नहीं खाया" – रुँआसे गले से सुधा ने कहा ।

"मैं क्या जानूं ? इसकी इससे पूछो ! मैंने तो इससे अब कुछ कहना ही छोड़ दिया, मुझे इस पर कितना गर्व था, इस कलयुग में मुझे तो केवल यही एक सतयुगी बालक नजर आता था । पर जब से इसने स्कूल छोड़ा, तब से दिन-प्रतिदिन आवारा होता जा रहा है । आये दिन अड़ौसियों-पड़ौसियों की शिकायतें सुनते-सुनते मेरे तो कान ही पक गये हैं । मेरी तो इसने नाक ही कटा दी है । अब तो इससे कुछ कहने को मन ही नहीं करता ।" कहते-कहते सेठ सिद्धोमल भावुक हो उठे – भर्राये हुए गले से वे कहे जा रहे थे और सुधा विस्मयभाव से सुने जा रही थी – "अरे संजू की अम्मा ! क्या करें इस मूरख का ? इतना बड़ा हो गया और आवारा बना फिरता है । अरे ! बनिये का बच्चा है, न पढ़ पाया तो न सही, कौन-सी नौकरी करानी थी, अपना धन्धा-व्यापार ही देखता । मैं कबतक देखूँगा इतना बड़ा व्यापार ? एक अकेली मेरी जान ! क्या-क्या देखूं ! सो वह घर का काम-काज देखना तो एक तरफ रहा, रोज-रोज उलाहने सुनते-सुनते परेशान हो गया हूं ।

जहाँ देखो, वहाँ से उधार ले रखा है, जिसका लिया वापिस देने का नाम नहीं, बाप जो बैठा है चुकानेवाला । झूठ अलग बोलता है, धोखाधड़ी ही धन्धा बना रखा है । घर की कितनी चोरी की है, तुम सोच भी नहीं सकतीं । जब आये दिन होती हुई चोरी से मैं परेशान हो गया तो मुझे एक-एक करके सभी नौकरों की छुट्टी करनी पड़ी है ।"

यद्यपि वे जान गये थे कि चोरी नौकर नहीं करते, उनका बेटा ही करता है, पर नौकरों पर आंच न आये एतदर्थ उन्हें हटाना आवश्यक हो गया था । फिर भी घर में चोरी होना बन्द नहीं हुआ, तब स्पष्ट हुआ कि चोरी और कोई नहीं करता, संजू ही करता है, पर तुमने पुत्रमोह में कभी यह स्वीकार नहीं किया ।

× × ×

अबतक संजू की माँ की शह, मित्रों के दबाव और व्यसनों की बढ़ती हुई मार से वह इतना मुँहफट और उद्दण्ड हो गया था कि पिता के पूछने पर उसने स्पष्ट कह दिया – हाँ रुपये मैंने उठाये हैं, बोलो ! आपको इसमें क्या कहना है ?

संजू की इसप्रकार दुःसाहसपूर्ण बातें सुनकर सेठ सिद्धोमल आग-बबूला हो गये । उन्होंने कहा – "अच्छा तो तू ही चोर है !"

"चोर ! कैसा चोर ? मैंने किस की चोरी की है ? जो मैं चोर हूँ । मेरा माल है, मैंने अपने काम से लिया है, इसमें आपके पेट में दर्द क्यों होता है ? बाप का पैसा बेटा खर्च नहीं करेगा तो और कौन करेगा ? लाओ तिजोरी की चाबियाँ भी मुझे दे दो, वर्ना····।"

संजू का इसप्रकार उद्दण्डता भरा व्यवहार देखकर सिद्धोमल ने माथा ठोक लिया और अचानक सीने में दर्द हो जाने से सीना को जोर से दबाते हुए वहीं बैठ गये ?

उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब कैसे हुआ ? और अब उन्हें क्या करना चाहिए ? सबसे पहले तो उन्होंने उसको सर्व अधिकारों से वंचित करने की कार्यवाही करते हुए दैनिक पेपर में यह सूचना निकलवादी कि – "आज से संजू का मेरी सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है । अतः जो भी इसको आर्थिक सहयोग करेगा, उसकी जिम्मेदारी मेरी नहीं होगी" और पत्नी के लाख समझाने पर भी माँ की ममता की परवाह न करते हुए संजू से हमेशा के लिए सम्बन्ध विच्छेद कर लिया । तब संजू आवारा बना दर-दर की ठोकरें खाते हुए समाज और राष्ट्र का कोढ़ (कलंक) बनकर रह गया ।

यही सब दास्तान सुनाते हुए सिद्धोमल ने पत्नी से कहा – "सुना है उन अन्नू-अज्जू की गरीब पत्नियाँ अलग घाट-घाट पर इसके नाम को रोया करती हैं । अन्नू-अज्जू सीधे-सादे गरीब आदमी हैं, दैनिक मजदूरी करके अपना एवं अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे, उन्हें भी दारू पिला-पिला कर बर्बाद कर दिया है । एक बात होवे तो तुझे सुनाऊँ, क्या-क्या कहूँ इसकी करतूतें ?"

बात पूरी ही नहीं हो पायी थी कि बीच में ही पुत्र व्यामोह में पड़ सुधा ने कहा – "संजू के पापा ! तुम्हें तो केवल एक संजू की ही सब गल्तियाँ दिखती हैं । बेचारा वह अभी क्या जाने इन बातों में ये

औरतें छिनारें ही ऐसी होती हैं, जो खुद तो दूसरों पर डोरा डालें और बदनाम करें बिचारे बच्चों को ! तुम क्या जानों तिरिया-चरित्तर ? खैर, और तो सब ठीक, पर तुम उस पर कभी हाथ मत उठाना।"

"अरे सुधा ! मैं क्या पागल हूँ, तू ने कभी देखा है उस पर हाथ उठाते ? हाँ, डाँटता-फटकारता तो मैं अवश्य हूँ, पर पीटना तो मैंने पाँच बरस से छोड़ दिया है।

और देखो ! तुम्हारे सामने कैसा भोला बन नीची गर्दन किए बैठा है। तुम्हें मालूम है यह तुम्हारे पास आज क्यों आया है और ऐसा रूठा-रूठा उदास-सा क्यों बैठा है ?"

सुधा ने अत्यन्त दुःख के साथ रुंधी आवाज में कहा – "प्राण-नाथ ! मुझे यह कुछ मालूम नहीं था, मैं व्यर्थ ही तुम पर इतनी झल्ला रही थी।"

"तो सुनो, मैंने इसके सब तरफ से पंख काट दिये हैं, मैंने बाजार में सबसे कह दिया, इसे कोई उधार न दे, वर्ना मैं जिम्मेदार नहीं हूँ।"

बस, जब इन्हें तुम्हारे सिवाय और कहीं शरण नहीं दिखी तब ये तुम्हारे पास आये हैं।

×   ×   ×

माँ की तो कुछ ममता ही ऐसी होती है कि वह सबकुछ जानकर भी अनजान बन जाती है। पापा के चले जाने पर संजू ने कहा – "माँ ! इसमें मेरा क्या अपराध है ? स्कूल में मास्टरों ने मुझे पढ़ने ही नहीं दिया, दिन भर अपने घर का काम कराते, बच्चों को खिलवाते, काम नहीं बनता तो कामचोर कहकर मारते-पीटते और पापा से शिकायत करने की धमकी देते। इधर पापा उनके विरुद्ध कुछ सुनने को तैयार नहीं थे, अतः मुझे मजबूर होकर स्कूल छोड़ना पड़ा।

तुम जानती ही हो कि पापा मुझे जेब खर्च को कितना-सा पैसा देते ? सारे दोस्त मेरी मजाक उड़ाते। इस कारण मुझे उधार लेना पड़ा। वह डॉ० साहब का लड़का राजू है न ? वह मेरा दोस्त है और उसके पापा उसे मन चाहा खूब पैसा देते, उसके साथ रहते-रहते उसने पहले मुझे सिगरेट पीना सिखा दिया। और बाद में धीरे-धीरे मदिरा पीने की भी आदत पड़ गई।

एक दिन जब कहीं से मुझे रुपये नहीं मिले तो मैंने पापा की जेब से हजार रुपये उठा लिये। पापा कहते हैं—"मैं चोर हूं, भला अपने पापा के पैसे लेना भी चोरी है। वह तो मेरे ही हैं न ? चाहे आज लूं या कल ?"

संजू की मां संजू की बातें सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़-सी होकर हतप्रभ रह गई, क्योंकि पहली बार संजू को इतना बोलते सुना था। अतः उसने पूछा—"बेटा ! यह सब बोलना तुझे किसने सिखाया ?"

संजू ने कहा—"राजू अपने पापा से खूब बोलता है। मां ! उसके पिता उसे जेब खर्च को मनमाना रुपया देते हैं, वे राजू से कभी कुछ नहीं कहते।"

यदि गेंद को जरूरत से ज्यादा दबाया जाय तो या तो हाथ से छूटकर एवं उचट कर दूर चली जाती है या फिर फूट जाती है। यही स्थिति संजू की हुई थी। अब वह माता-पिता से उचट कर दूर, बहुत दूर जा गिरा था। □

११

छोटा परिवार सुखी परिवार का नारा देनेवाले डॉ० धर्मचन्द और उनकी पत्नी डॉ० कनकलता जब दैवयोग से बड़े परिवार के चक्रव्यूह में फंस गये तो उनकी दशा भी दयनीय हो गई थी।

पुत्र की चाह में न चाहते हुए भी उनके एक के बाद एक – तीन लड़कियाँ हो गईं। राजू उनकी चौथी संतान थी। तीनों बहनें राजू से बड़ी थीं। माता-पिता मिलाकर पूरे परिवार में आठ सदस्य हो गये थे।

यद्यपि आर्थिक दृष्टि से उनके पास कोई कमी नहीं थी, पिता रिटायर्ड जज थे, अतः उन्हें भी भरपूर पेंशन मिलती थी। लाखों रुपये अनिवार्य जमा योजना, जीवन बीमा आदि के उन्हें मिल चुके थे। डॉ० दम्पति शासकीय सेवा में सर्वोच्च पदों पर तो थे ही, अच्छी प्रतिष्ठा होने से घर पर भी मरीजों की भारी भीड़ रहा करती थी।

पर, संतान के जीवन को सुखमय बनाने के लिए पैसा ही सब कुछ नहीं होता, संतान पर व्यक्तिगत ध्यान देना भी अति आवश्यक होता है। थोड़ा-सा ध्यान भी हटा नहीं कि संतान पतन के किसी भी गहरे गड्ढे में गिर सकती है।

डॉ० धर्मचंद और उनकी पत्नी डॉ० कनकलता का स्वयं कहना था कि "संतान पैदा करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उनका सही ढंग से लालन-पालन, देख-भाल और पढ़ाने-लिखाने के साथ उनके सम्पूर्ण भविष्य को उज्ज्वल बनाना होता है और आज के इस मंहगाई के युग में तथा अत्यन्त व्यस्त जीवन में कोई कितना भी साधन-सम्पन्न क्यों न हो, दो संतानों से अधिक का दायित्व वहन नहीं कर सकता।

पुत्रों के प्रति माता-पिता का जितना दायित्व है, उससे भी कहीं बहुत अधिक दायित्व पुत्रियों के प्रति होता है; क्योंकि यदि योग्य घर-वर की कमी के कारण उनका जीवन सुखी नहीं रह सका तो उनके माता-पिता न केवल उत्तरदायी ही होते हैं, बल्कि पुत्रियों को दु:खी देखकर स्वयं भी दु:खी होते हैं। और यह पीड़ा जीवनभर सहनी पड़ती है। यदि दैवयोग से रूप-रंग या गुणों में हीन हुई, तब तो लाखों रुपये खर्च करने पर भी योग्य घर-वर मिलना दुर्लभ हो जाता है।

अत: सन्तानोत्पत्ति के समय यह विवेक जरूरी है कि जितना उत्तरदायित्व निभा सके, उतनी ही संतान हो।

यह सब जानते हुए भी पुत्र-लालसा ने डॉ० धर्मचंद और उनकी पत्नी डॉ० कनकलता को अंधा बना दिया था। दूसरों को मार्गदर्शन देनेवाले स्वयं ही मार्ग से भटक गये थे। परिणाम यह हुआ कि उनके कुल का दीपक एकमात्र पुत्र राजू पारिवारिक तूफानी थपेड़ों में दिये और तूफान की कहानी बनकर रह गया।

× × ×

दादी माँ ने आवाज लगाई – "बेटा राजू ! तू तैयार हो गया है न ? मुझे मन्दिर को देर हो रही है, प्रवचन आरम्भ हो गया होगा ? चल बेटा चल, मुझे जल्दी छोड़ आ !"

"दादी माँ ! मुझे तो आज ढेर सारा होमवर्क मिला है, मैं वह कब करूँगा ?" – राजू ने कहा।

"बस, छोड़कर आ जा, वहाँ से तो मैं किसी तरह उठते-बैठते किसी के साथ आ भी जाऊँगी। पर यहाँ से एक तो अकेली जाऊँ कैसे ? और किसी तरह धीरे-धीरे चली भी गई तो जबतक पहुँचूंगी, तबतक प्रवचन ही पूरा हो जायगा। बेटा ! तुझे वहाँ रोकूँगी नहीं, चल जल्दी चल, देर मत कर।"

किताबें-कापियाँ समेटकर बस्ते में रखता हुआ राजू बड़बड़ाया "प्रतिदिन यही समय तुम्हारे मन्दिर जाने का होता है और यही समय मुझे होमवर्क करने को मिलता है। तुम ही बताओ दादीमाँ ! ऐसा कैसे चलेगा ?"

"अरे बेटा ! तू ही बता न ? तेरे सिवाय मेरे बुढ़ापे का सहारा और है ही कौन ? मुझे रास्ते में कुछ दिखाई तो देता नहीं है। सड़क पार करने में यदि किसी की टक्कर लग गई तो मेरी तो हड्डी-पसली ही टूट जायगी न ?" – बड़े ही दीनभाव से दादी ने कहा।

"दादी माँ ! यदि मन्दिर न जाओ तो नहीं चलेगा ?"

"बेटा ! इसमें चलने न चलने की बात ही क्या है ? भगवान थोड़े ही कहते हैं कि तुम हमारे दर्शन करने आओ। दर्शन-पूजा करने और प्रवचन सुनने से अपना ही लाभ है, इसलिए जाते हैं।"

"क्या लाभ होता है इससे ?"

"बेटा अभी ही सब कुछ पूछ लेगा, अभी तो तू मुझे वहाँ पहुँचा दे, वहाँ जाने की जल्दी है न ? फिर जब भी तुझे समय मिले – मेरे पास आ जाना, मैं तुझे सब समझा दूंगी। हाँ, जब तूने पूछ ही लिया है तो इतना तो तू समझ ही ले कि **जो प्रतिदिन भगवान के दर्शन-पूजन करता है, वह एक न एक दिन स्वयं भगवान बन जाता है।** बाकी विस्तार से फिर कभी बताऊँगी। अब जल्दी चल ! बातें रास्ते में कर लेना।"

रास्ते में चलते-चलते दादी माँ ने कहा – "बेटा, मैंने तो जिन्दगी में कभी भी बिना मन्दिर का खाय-पिया नहीं है और बिना प्रवचन सुने भी कभी रही नहीं – इसलिए में सोचती हूँ कि अब थोड़ी-सी जिन्दगी और है, बुढ़ापे में धरम-करम न छूटे तो अच्छा है। यही तो एक जीवन की सच्ची कमाई है, इसके सिवाय और तो साथ जाता ही क्या है ? बेटा ! यह तो मेरा सौभाग्य है जो तुझ जैसा पोता मिल गया, वर्ना मुझे इस बुढ़ापे में यह सहारा और कौन देता ?

हाँ, और सुन ! मैं तुझे प्रतिदिन दो रुपये दूंगी, पर तू यह बात किसी से कहना नहीं। जो भी जी में आये खा-पी लिया करना, समझे..............।"

दादी माँ ने मन में सोचा – "मुझे कौन-सा यह सब सिर पर बाँधकर ले जाना है। बच्चा है खायेगा-पीयेगा और इस लालच में मेरा काम कर दिया करेगा।"

"अच्छा दादी माँ ! तुम कितनी अच्छी हो। अब तुम तैयार हो जाया करो तो मुझे आवाज दे दिया करना, मैं कम से कम तुम्हारा काम तो करूँगा ही, तुम्हें दिखता नहीं है न ?

× × ×

राजू स्कूल से लौटा ही था कि दादाजी ने आवाज लगाई – "बेटा राजू ! तुम आ गये ? जरा सुनो तो बेटा ! मैं तुम्हें यह पर्चा दे रहा हूँ, सो तुम दौड़कर बाजार से दवा तो ले आओ।"

"अरे ! दादाजी, स्कूल से आया नहीं कि फिर…………" ?

"अरे बेटा !, ऐसी बातें नहीं करते। देख बेटा ! यदि मेरा काम तू ही नहीं करेगा तो और कौन करेगा ? मैं तो तुम्हारी कब से प्रतीक्षा कर रहा हूँ ? कितना अच्छा है मेरा बेटा ! देखो, तुम्हारी बहिनें तो अकेली बाजार जाने से रहीं, फिर उन्हें पढ़ाई के कारण समय ही कहाँ मिलता है ? लो ये पच्चीस रुपये, इनमें से दो-ढाई रुपये बचेंगे सो तुम्हें जो कुछ पसंद हो खा-पी लेना। ठीक है न ?"

"अच्छा दादाजी ! आज तो ले आता हूँ, पर……।"

"पर क्या बेटा ! अब तो जबतक जीना है तबतक यही सब चलना है और यदि तू ही आना-कानी करेगा तो बोल और मैं किससे कहने जाऊँगा ? हाँ, तुझे जब खर्चे को जितने पैसे चाहिए हो मुझसे ले जाया कर, पर ध्यान रखना, काम को कभी मना मत करना, समझे !"

राजू ने सोचा – "चलो ठीक है, दादा और दादी – दोनों से मन चाहे रुपया मिलेंगे सो खूब मजा आयेगा। इनका काम ही कितना-सा है और फिर इनका काम करने से पापा भी तो खुश रहेंगे सो इनके सिवाय उनसे अलग पैसे ले लिया करूँगा ! गुड ! वेरी गुड !! इतने पैसे मेरे दोस्तों में किसी को भी नहीं मिलते होंगे, जितने मुझे मिलेंगे ?"

एक दिन राजू के पापा ने पूछा – "क्यों बेटा ! तुम दादाजी और दादी माँ का काम तो बराबर करते हो न ?"

राजू ने एक क्षण सोचकर जवाब दिया – "पापा ! करता तो हूँ, पर उनके कामों में मेरा बहुत समय खराब हो जाता है, पापा आप

ऐसा करो न ? किसी लड़के को इस काम के लिए नौकरी पर रख लो तो कैसा रहे ?"

"अरे बेटा ! अच्छे लड़के मिलते ही कहाँ हैं ?"

"अच्छा पापा ! यदि अच्छा लड़का मिल जाय तो आप उसे क्या वेतन दे सकते हो ?"

"यदि अच्छा लड़का हुआ तो यही ५-७ रुपया रोज दे देंगे ।"

"हँसते हुए राजू बोला—"अच्छा पापा ! बताओ मैं कैसा लड़का हूँ—अच्छा या बुरा ?"

पापा ने हँसी का जवाब हँसी में देते हुए कहा—"अच्छा अब समझा मैं—तू तो मुझसे भी ज्यादा होशियार हो गया है। अच्छा चलो ठीक है, तुम्हें पाँच रुपये रोज मिलेगा, पर दादाजी की कभी शिकायत नहीं आनी चाहिए ।

और हाँ, राजू सुनो ! कल तुम्हारे मास्टरजी मिले थे, वे कह रहे थे कि आजकल राजू स्कूल समय पर नहीं पहुँच रहा है, क्या बात है ?"

"बात क्या है पापा..............।"

राजू कुछ कहना ही चाहता था कि "चलो कोई बात नहीं, आगे ध्यान रखना"—यह कहकर उसके पापा अस्पताल चले गये ।

× × ×

बड़ी बहिन बेबी ने कहा—"राजू ! राजू !! ओ राजू !!! क्यों राजू ! तू सुनता क्यों नहीं है ? बहरा हो गया है क्या ?"

"क्या है दीदी ? वहीं बैठे-बैठे राजू ने कहा ।"

"वहीं बैठे-बैठे दीदी-दीदी करता रहेगा या यहाँ आयेगा भी ?"

राजू ने झुंझलाकर अपना बस्ता एक ओर फेंकते हुए कहा—"फरमाओ ! क्या आज्ञा है ?"

"जरा बाजार तो चला जा, सब्जी लेकर लौटते समय प्रोफेसर सिन्हा के यहाँ से एक बुक लेते आना ।"

"मैं अभी डॉ० सिन्हा के यहाँ नहीं जा सकूँगा, अभी मुझे स्कूल का कुछ जरूरी काम करना है। अभी-अभी बबली दीदी ने भेजा था, तभी तुम अपना काम बता देती। अब तो मैं जब शाम को अपने काम से जाऊँगा तभी आपकी बुक भी ले आऊँगा।" सब्जी तो अभी ढेरों पड़ी है, देखो न जरा फ्रिज में।"

"मुझे क्या पता था कि तू कब कहाँ जाता है? मुझे तो अभी बुक चाहिए। तू अभी जाकर ला! यदि मेरा कहना नहीं मानेगा तो समझ लेना, मैं तुझसे कभी भी बात नहीं करूँगी और कभी कोई चीज लाकर तुझे नहीं दूँगी। ठीक है मत जा! आने दे पापा को....।"

× × ×

राजू सोच रहा था – "एक बिचारा राजू और ढेर सारे काम! किस-किस के काम करे? और कब करे? सभी के सब काम अर्जेन्ट, न कोई काम कल पर छोड़ा जा सकता है और न दो-चार काम कभी एक साथ ही किये जा सकते हैं? जब जिसके मुख से जो निकले वह काम उसी समय होना चाहिए। केवल अपना काम ही सबको महत्त्व-पूर्ण लगता है, दूसरे के काम की किसी को कोई परवाह नहीं।"

मम्मी-पापा के आते ही बेबी ने कहा – "पापा! न तो राजू पढ़ता ही है और न कोई काम ही करता है, मैं तो इससे तंग आ गई हूँ।"

बबली ने भी छाप लगा दी, "हाँ, पापा! दस बार कहो तब एक बार सुनता है।"

जब मम्मी-पापा राजू की शिकायतें सुनते-सुनते परेशान हो गये तो एक दिन उन्होंने भी लड़कियों से कुछ कहने के बजाय राजू को ही उसके कर्त्तव्य का बोध कराया।

उन्होंने प्रेम से कहा – "देखो बेटा! हमें तो समय मिलता नहीं है, घर पर भी दिन-रात मरीज घेरे रहते हैं और अस्पताल भी जाना ही पड़ता है। दादी माँ और दादाजी से तो अपना ही काम नहीं हो पाता, वे तो बिचारे कुछ कर ही नहीं सकते, उल्टा उन्हीं की सेवा अपन को करना है। घर में तुम्हीं तो सबसे छोटे हो! और छोटों का कर्त्तव्य है कि वे बड़ों की बात मानें। तुम्हारी बहिनों का काम तुम नहीं करोगे तो और कौन करेगा? तुम्हीं तो एकमात्र उनके

भाई हो ! कल शादी होकर सब अपनी-अपनी ससुराल चली जावेंगी, फिर कौन कहेगा तुमसे काम करने को ? और उनकी डॉक्टरी की पढ़ाई भी तो कठिन है न ? तुम्हारा कितना-सा होमवर्क है.......?

और हाँ, स्कूल से भी कोई शिकायत नहीं आनी चाहिए। ठीक है न !"

मम्मी ने भी पापा की हाँ में हाँ मिलाते हुए राजू को उसके कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाया।

वह मना तो नहीं कर सका, पर वह विचार में पड़ गया कि "करूँ तो क्या करूँ ? यह सब कैसे संभव है ?.......काम का कोई ओर-छोर तो होता नहीं ? जिसके सामने दिखता हूँ, वही छोटा समझकर आदेश दे देता है। कुछ नहीं तो जितने बार भी घंटी बजे – दरवाजा ही खोलते-लगाते रहो। कोई मेहमान आये तो पानी ले आओ, चाय बनालो, पान ले आओ; कुछ नहीं तो वह शीशी उठाना, यह रबर देना, स्केल कहाँ है ? जब बच्चा सामने बैठा है तो किसी को भी हिलने-डुलने की क्या जरूरत है ?"

"अच्छा तो यह होगा कि अपन किसी के सामने ही न रहें, तो फिर न कोई देखेगा और न भौंकेगा।"

यह गुरुमंत्र बुद्धि में आते ही वह खुशी के मारे उछल पड़ा। बस, अब क्या था ? अब तो वह अधिकांश समय घर से बाहर ही रहने लगा।

जब पापा पूछते –"कहाँ गये थे राजू ? तो राजू का उत्तर होता – दादाजी के काम से।"

और जब दादाजी पूछते –"राजू बहुत देर से दिखे ही नहीं कहाँ चले गये थे ?"

राजू का उत्तर होता –"पापाजी के काम से।"

इस तरह कोई भी क्यों न पूछे – तुरन्त एक को दूसरे का नाम बता देता और छुट्टी पा लेता।

धीरे-धीरे स्कूल जाने से भी बचने लगा, क्योंकि जब स्कूल का होमवर्क पूरा नहीं होता तो वहाँ से भी शिकायतों पर शिकायतें आतीं। जब घर में ही नहीं ठहरेगा तो होमवर्क करे कब ?

बाहर रहने के लिए भी तो कोई न कोई सहारा और साथी-संगी चाहिए। सो खुरपी को टेढ़ा बेंट तो मिल ही जाता है; उसे भी संजू का साथ मिल गया। वह भी तो इसी से मिलती-जुलती समस्या का शिकार था।

संजू घर से और होस्टल से निष्कासित था और राजू घर के कामों से परेशान। यद्यपि राजू घर में पूरी तरह नहीं भागा था, पर जो स्थिति भगोड़ों की होती है, लगभग वही स्थिति उसकी थी।

□

विश्वसनीयता

हमारे भीतर लाख गुण हों, पर यदि विश्वसनीयता नहीं है तो वे लाख गुण राख हैं। — अज्ञात

"जिस आदमी के बारे में आप यह कह सकते हैं कि वह विश्वसनीय नहीं है। उसके विरुद्ध और कुछ मत कहिए।"

— कार्लाइल

अविश्वसनीयता से बढ़कर और कोई धब्बा हो ही नहीं सकता, क्योंकि हमारी अविश्वसनीयता केवल हमारी ही अविश्वसनीयता नहीं है, वह हमारे परिवार, समाज व राष्ट्र की भी अविश्वसनीयता है।

विश्वसनीयता हमारे जीवन का कोई आवरण नहीं, आचरण है। हमें दुःख हो या सुख, हम बढ़ें या मिट जाएँ, पर हमारे प्रति जो विश्वास है, हम उसे खण्डित नहीं होने देंगे—हमारा यह निर्णय ही हमारी विश्वसनीयता का प्राण है।

वादा पूरा करना हमारी विश्वसनीयता की सबसे बड़ी कसौटी है। — निजी डायरी से, १६-११-८८

१२

वर्षाऋतु का समय, कभी घनघोर घटायें, कभी रिमझिम-रिमझिम बरसात, कभी ओले तो कभी तूफान, कीट-पतंगों, मक्खी-मच्छरों का संचार, कीड़े-मकोड़ों, चींटी-चींटियों, लट-केचुओं आदि सूक्ष्म जीवों की भरमार, जंगल में जहाँ देखो वहीं चारों ओर हरियाली ही हरियाली, पाँव रखने को भी ऐसी कोई जगह खाली नहीं थी जहाँ हरियाली न हो। पगडंडियों में भी हरियाली उग आई थी। कच्चे रास्तों में जहाँ देखो वहाँ पानी और कीचड़ ही कीचड़ भरा था।

ऐसी स्थिति में अहिंसा महाव्रत के धारी वनवासी साधु संघ का बहुत दूर जंगल से आहार के निमित नगर में आना-जाना तो संभव नहीं था और नगर में साधु रहते नहीं हैं; क्योंकि गृहस्थों का सान्निध्य, नगर का कोलाहल तथा गृहस्थों के आवास या धर्मशाला वगैरह उनकी आत्म साधना के अनुकूल नहीं होते।

नगरों में तो वे केवल आहार के लिए आते, सो उस समय भी बैठना ठीक नहीं मानते। खड़े-खड़े ही आहार लेकर तुरन्त वापिस चले जाते। एक क्षण भी उन्हें गृहस्थों के पास बैठना इष्ट नहीं था। इसलिए नहीं कि उन्हें उनसे द्वेष था; बल्कि इसलिए कि जिन राग-द्वेष के उत्पादक प्रसंगों का वे त्याग कर चुके हैं, गृहस्थों के पास प्रायः उन्हीं प्रसंगों की चर्चा-वार्ता होती है। अतः आचार्यों का भी यही आदेश होता है कि गृहस्थों के सम्पर्क में साधु अधिक न रहें।

इसकारण एक दिगम्बर साधुसंघ अपना चातुर्मास स्थापित करने के लिए किसी ऐसे वन प्रदेश की तलाश में था, जो न नगर के अति निकट हो और न अति दूर; निर्जन और निर्बाध भी हो। जंगल के जानवरों से उन्हें कोई बाधा नहीं थी; क्योंकि वे उनसे राग-द्वेष की बातें करके, उनका समय व उपयोग खराब नहीं करते, कोलाहल नहीं करते, आपस में लड़ते-झगड़ते नहीं हैं, किसी से धोखा-धड़ी नहीं करते। शाम को आकर चुपचाप बैठ जाते हैं, सवेरे उठकर चुपचाप ही चले जाते हैं। न रात में खाते-पीते, न रोते-गाते, बस जो दिन भर खाया-पीया रात में चुपचाप बैठ उसी की जुगाली किया करते।

संयोग से उस साधु संघ को उसी नगर के निकट एक उपयुक्त स्थान मिल गया; जहाँ ज्ञान, सुदर्शन और विज्ञान वगैरह रहते थे। साधु संघ वहीं ठहर गया और वहीं चातुर्मास-वर्षा योग स्थापित करने का निश्चय कर लिया।

उस निर्जन-निर्बाध वन प्रदेश में बड़े-बड़े घने छायादार वृक्ष थे, वहीं एक बरामदानुमा खण्डहर-सा बहुत बड़ा मकान था। उस मकान में न किवाड़ लगे थे, न किवाड़ लगने जैसी कोई व्यवस्था ही बनी थी। केवल चारों ओर दीवालें थीं और थे बीच-बीच में छत के आधारभूत खंभे, न कोई कमरा न कोई पार्टीशन दीवालें।

साधुओं के वर्षा योग के अलावा तो वहाँ केवल जंगली जानवर ही सुस्ताया करते थे, पर हर वर्षाकाल में आस-पास विहार कर रहा कोई न कोई साधु संघ वहाँ आ ही जाता था। साधु संघ से उन जानवरों को भी कोई बाधा नहीं थी, बल्कि लाभ ही था। दिगम्बर साधुओं की वीतराग भाववाही परम शांत मुद्रा देखकर वे जानवर भी अपना जन्मजात बैर-भाव भूल जाते थे। वहाँ किसी के आने-जाने की रुकावट तो थी नहीं, पर गृहस्थ वहाँ स्वभावतः कम ही ठहरते थे; क्योंकि वहाँ उन्हें अपने अनुकूल आरामदायक बैठने-उठने एवं सुख से समय बिताने के साधन जो नहीं थे। साधुओं के हित में भी यही था, वैसे उस जंगल में पूरा जनतंत्र था। जब जिसे आना हो आवे, जाना हो जावे, रोक-टोक का कोई काम नहीं।

उस वन और भवन की बनावट से ऐसा लगता था कि संभवतः वह किसी धर्मवत्सल राजा या राजपुरुष द्वारा साधु-संतों की साधना स्थली के रूप में ही निर्मित और विकसित किया गया हो। उसे छोटा वन या बड़ा उपवन कह सकते हैं।

पुराने जमाने में ऐसे स्थानों को वसतिका कहा जाता था और उनमें साधु-संत आत्म साधना किया करते थे।

× × ×

यह नगर निवासियों का परम सौभाग्य ही समझना चाहिये कि कभी किसी उदार धर्मात्मा पुरुष ने यह साधुओं के धर्म साधन का साधना स्थल बना दिया था, जिससे वहाँ के नागरिकों को सहज में ही पीढ़ियों से धर्म लाभ मिलता आ रहा है। धर्मायतन बनाने का

यही तो महत्त्व है। जिसके भी धन से वह साधन बना होगा, उसके उस द्रव्य का सबको कितना बड़ा लाभ है? प्रति वर्ष साधु तो लाभ लेते ही हैं, समाज भी उससे लाभान्वित होता है। वैसे तो किसी को पता ही नहीं था कि साधु संघ कब आकर ठहर गया है; पर जब साधुगण आहार के लिए नगर में आये तो सर्वप्रथम वे दर्शनार्थ जिन मन्दिर गये।

यद्यपि नग्न दिगम्बर साधुओं को जिन दर्शन पूजन एवं प्रक्षाल आदि करना अनिवार्य नहीं है; क्योंकि जो स्वयं पूज्य और दर्शन देने योग्य बन गये हैं, उन्हें अब पूजन से कोई प्रयोजन नहीं रहा; पर जहाँ जिन मन्दिर होता है तो वहाँ दर्शन करने वे जाते अवश्य हैं।

जहाँ जिन दर्शन का सहज लाभ मिल रहा हो, उसे भला कौन छोड़ना चाहेगा। जिनालय में सुदर्शन और ज्ञान दोनों उस समय मौजूद थे; क्योंकि अभी-अभी प्रवचन समाप्त हुआ ही था दोनों ने भक्ति-भाव से साधुओं की वंदना की और अपने भाग्य को सराहा। वर्षाऋतु में मुनिराजों के दर्शन होने से उन्हें निश्चय हो गया था कि साधुसंघ ने यहीं-कहीं आस-पास ही अपना वर्षायोग स्थापित करने का निश्चय किया है। आहार लेकर साधु-संघ के सभी साधु एक-एक करके वन की ओर चले गये। ज्ञान और सुदर्शन भी उनके चरण चिन्हों का अनुसरण करते हुए उस वन में पहुँच गये, जहाँ मुनिसंघ ठहरा था।

उनके पहुँचने तक संघ के सभी साधु सामायिक करने बैठ गये। ज्ञान और सुदर्शन न केवल दर्शन करने आये थे, वे संघ के आचार्यश्री से प्रतिदिन प्रवचन और तत्त्वचर्चा करने का निवेदन भी करना चाहते थे। अतः वे सामायिक से उठने तक की प्रतीक्षा में वहीं बैठ गये।

× × ×

पुण्यात्माओं के मनोरथ कभी निरर्थक नहीं जाते। ज्ञान और सुदर्शन मंदिर में आज ही चर्चा कर रहे थे कि यदि इस वर्ष किसी साधु संघ का वर्षायोग इस नगर के आसपास कहीं हो जावे तो कितना अच्छा रहे। सो घंटे भर बाद ही जिनमंदिर में साधु संघ के दर्शन हो गये।

दूसरे उनकी यह भावना हुई कि "काश ! इस संघ के आचार्य कोई विशिष्ट ज्ञानी हों और उनके सत्समागम का पूरा लाभ हम सबको मिले।

किसी के कहने से तो कोई साधु प्रवचन देते नहीं है, पर फिर भी कहना तो चाहिए ही। संभव है करुणा आ जावें हम पर।"

आचार्यश्री ने सामायिक से उठते ही उन्हें बोलने का अवसर दिये बिना पहले ही सब शिष्यों को बुलाकर सूचित कर दिया कि कल प्रातःकाल से प्रवचन प्रारंभ होगा। यह खुशखबरी सुनकर ज्ञान विज्ञान भी हर्षित होते हुए घर चले गये और उन्होंने कल से होने वाले प्रवचनों की सूचना घर-घर भिजवा दी।

पहला दिन था इसकारण आज ज्ञान, विज्ञान और सुदर्शन को बातों-बातों में प्रवचन में पहुँचने में कुछ देर हो गयी थी, प्रवचन प्रारंभ हो गया था। आचार्यश्री कह रहे थे कि-"संस्कारों की तो बात ही निराली है। देखो न ! चिड़ियों को ऐसे सुविधा संपन्न और सभी तरह के सुरक्षा साधनों से युक्त घोंसला बनाने का प्रशिक्षण कौन देता है ? मधुमक्खियों को फूलों का रस एकत्रित कर मधु बनाने और सुरक्षित रहने के लिए मोमयुक्त वातानुकूलित छत्ता बनाने का प्रशिक्षण कौन देता है ? चींटियों को सामूहिक रूप से संगठित होकर अन्नकण इकट्ठा करने की शिक्षा कहाँ से मिलती है ? पशुओं को जन्मते ही पानी में तैरना किसने सिखाया ? और जाने ऐसे कितने विचारणीय प्रश्न हैं जो हमारे पुनर्जन्म और पूर्व के जीवन के संस्कारों को सिद्ध करते हैं।

ये सब उनके जन्म-जन्मान्तर और वंश परम्परागत संस्कारों का ही सुपरिणाम हो सकते हैं, जो उन्हें अपनी पूर्व की पीढ़ी-दर पीढ़ी से मिलते आ रहे हैं।"

संस्कार दो तरह से प्राप्त होते हैं – एक वंश परम्परागत पूर्व पीढ़ियों से और दूसरे, जीव के पूर्व भवों से। अर्थात् एक देह की पीढ़ी से और दूसरे आत्मा की पीढ़ी से।

वंश परम्परागत संस्कारों को स्पष्ट करते हुए आचार्य देव ने अपने प्रवचन में एक किम्वदन्ती का उल्लेख करते हुए कहा – "कुसंस्कारों का कुप्रभाव भी कहाँ तक हो सकता है, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

एक थी जेबकतरी, जो जेब काटने में बहुत कुशल थी। उसे इस बात का गर्व था कि उसे कोई जेब काटते हुए पकड़ नहीं सकता।

मान तो रावण का भी नहीं रहा, सो चोरों की तो बात ही क्या है? एक दिन जब वह जेब काटते रंगे हाथों पकड़ी गई तो उसे तो पकड़ने वाले की होशियारी पर आश्चर्य हुआ ही, साथ ही जिसकी जेब काटी गई थी, उसे भी भारी आश्चर्य हुआ; क्योंकि वह भी अपने को अब तक एक अद्वितीय जेबकट माने बैठा था। उस दिन उसका भी गर्व गल गया, जब उसने जेबकतरी की हाथ की सफाई को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा।

दोनों एक-दूसरे से प्रभावित तो थे ही, आँखों ही आँखों में दोनों का व्यवहार भी प्रेमालाप में बदल गया। जेबकतरे ने जेबकतरी का हाथ तो पकड़ ही रखा था और गुणों का मिलान भी बिना ब्राह्मण के मिलाये हो मिल गया। (दोनों एक नम्बर के जेबकट तो थे ही), अतः उनका वह हाथ का पकड़ना ही 'हथलेवा' हो गया, पाणिग्रहण संस्कार हो गया। दोनों मिलकर वही अपना पुस्तैनी धंधा करने लगे।

वैसे तो सभी बालक जन्म से मुट्ठियाँ बाँधे ही आते हैं, परन्तु उनसे जो बालक हुआ, उसकी दायें हाथ की मुट्ठी कुछ इसतरह बन्द थी कि खुलती ही नहीं थी। जब भी खोलने का प्रयत्न किया जाता तो वह जोर-जोर से रोने लगता था। अन्ततोगत्वा उन्होंने उसके हाथ का ऑपरेशन कराने का निश्चय किया। जाँच-पड़ताल के बाद डॉक्टर ने ऑपरेशन से इन्कार करते हुए मनोचिकित्सक को दिखाने की सलाह दी।

मनोचिकित्सक ने बालक के भयाक्रान्त चेहरे और रोने की आवाज से बन्द मुट्ठी के रहस्य का बहुत कुछ अनुमान तो कर ही लिया था। शेष रही-सही शंका को दूर करने के लिए उस बालक के माता-पिता से कुछ अकड़कर पूछा—"तुम्हारा धंधा क्या है?"

सकपकाते हुए दबे स्वर में बालक का पिता बोला—"आप आपकी जो फीस हो, हम देने को तैयार हैं। आप हमारा धंधा जानकर क्या करेंगे?"

अभयदान देते हुए मजाक के मूड में डॉक्टर ने कहा – "चिन्ता मत करो, हम पुलिस वाले नहीं हैं, हमें बताने में तुम्हें कोई खतरा नहीं है।"

वंशपरम्परागत संस्कारों से अवगत हो डॉक्टर ने बालक की मनोवृत्ति पहचानकर अपने गले की सोने की चैन उतारकर ज्यों ही बालक को दिखाई कि बालक ने अपने पैतृक संस्कारवश सोने की चैन को देखते ही मुट्ठी की अंगूठी फेंक दी और चैन पकड़ ली।

यह वही अंगूठी थी, जिसे प्रसूति के काल में दाई की उंगली से गिरते ही बालक ने मुट्ठी में दबा ली थी। क्यों नहीं दबा लेता? चुहिया का बच्चा भी तो जन्मजात जमीन खोदना व बिल बनाना जानता है।

इसप्रकार सरस और हृदयस्पर्शी प्रवचन करते हुए आचार्यश्री ने आगे कहा – "यदि हम अपनी संतान को दुराचारी नहीं देखना चाहते हैं, तो हमें अपने दुराचारों को तिलांजलि देनी होगी और अपने बच्चों को सदाचार के संस्कार देने होंगे।"

अपने प्रवचन को जारी रखते हुए आचार्यश्री ने कहा –

"दूसरे कुछ संस्कार ऐसे भी होते हैं, जो हमारे पूर्व भव-भवान्तरों से हमारे साथ आते हैं। राजुल-नेमीकुमार की विगत नौ भवों की पुरानी प्रीति, कमठ और पार्श्वकुमार का पुराना इकतरफा बैर-विरोध तो आगम सिद्ध व लोक प्रसिद्ध है ही; और भी ऐसे अनेक पौराणिक उदाहरण हैं, जो पूर्वभवों से चले आ रहे संस्कारों को सिद्ध करते हैं।

देखो न! वह ब्राह्मणकन्या, जिसे दैवयोग से उन्हीं दिगम्बर जैन साधु के दर्शन का सौभाग्य मिल गया, जो उसके पूर्वभव (वायुभूत) के मामा थे। साधु को भी उसे देखते ही पूर्व संस्कारवश धर्म-स्नेह उमड़ आया था। अतः उन्होंने उसे पात्र जानकर उसके कल्याण की भावना से पांच अणुव्रत दे दिये थे।

जब यह बात उस बालिका के पिता को पता चली तो पुत्री से नाराज हुआ। नाराजी का कारण व्रत ग्रहण करना नहीं, बल्कि जैन साधु से व्रत ग्रहण करना था; क्योंकि उसमें जैनत्व के संस्कार नहीं थे। इसकारण उसके अन्तरात्मा को जैन साधु के द्वारा दिये गये व्रत

स्वीकृत नहीं हो सके। उसने बेटी से आदेश की मुद्रा में कहा – बेटी ! तू ये व्रत छोड़ दे।"

× × ×

बेटी की हार्दिक भावना उन व्रतों को छोड़ने की नहीं होते हुए भी वह पिता की आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकी। अतः वह पिताजी से विनयपूर्वक बोली – "पिताजी ! साधु महाराज ने कहा था कि यदि तेरे पिता को ये व्रत पसंद न आवें तो वहीं घर बैठे मत छोड़ देना, मेरे व्रत मुझे वापिस कर जाना। अतः यदि आप इन्हें छुड़वाना ही चाहते हैं, तो उन्हीं मुनिराज के पास चलकर मैं ये व्रत उन्हें वापिस करूँगी; क्योंकि मैं उन्हें वापस करने का वचन देकर आई हूँ।"

बेटी के अनुरोध पर पिता पुत्री को लेकर मुनिराज के दिये व्रतों को उन्हें वापिस लौटाने जा रहा था। रास्ते में उन्होंने एक के बाद एक चार ऐसी घटनाएँ देखीं, जिनमें क्रमशः एक को हत्या के अपराध में फांसी, दूसरे को असत्य भाषण के अपराध में जिह्वाछेद, तीसरे को चोरी के अपराध में आजीवन कारावास और चौथे को बलात्कार के अपराध में लोहे के गर्म शलाकाओं से दागने का दण्ड दिया जा रहा था।

बेटी ने कहा – "पिताजी ! मैंने तो इन सब पापों के त्याग के व्रत लिये हैं। इसमें मैंने क्या बुरा किया है ? क्या इन पापों को करके मुझे भी ये दुःख नहीं भोगने पड़ेंगे ? अतः आप मुझे इन व्रतों को छोड़ने के लिए बाध्य न करें।"

"अच्छा ! ठीक है, व्रत मत छोड़ना, परन्तु वहाँ तक चल तो सही, उस साधु को इतना उलाहना तो दे ही आवें कि मेरी बेटी को ये व्रत दिए सो दिए, परन्तु अब आइन्दा तुम किसी को इसतरह व्रत वगैरह देकर बहकाने की कोशिश नहीं करना।"

ज्योंही उस कन्या के पिता ने जैन मुनि से उलाहना देते हुए कहा – "महाराज ! आपने मेरी बेटी को मेरी अनुमति के बिना ये व्रत देकर अच्छा नहीं किया। यह तो कोई बात नहीं, पर····।

"पर क्या ?" कहते हुए करुणासागर मुनिराज बोले – हे यज्ञदत्त ! तुम्हारा कहना सत्य है कि माँ-बाप को सूचित किए बिना कोई

व्रतादिक देना योग्य नहीं है। परन्तु मैंने तो अपने भानजे को व्रत दिये हैं, तेरी बेटी को नहीं।"

यह सुनकर यज्ञदत्त आश्चर्यचकित होकर बोला – "महाराज! हमने तो सुना था कि जैन साधु सत्य महाव्रत के धारी होते हैं। ये आप क्या कह रहे हैं? यह मेरी बेटी नहीं है!"

यज्ञदत के ऐसा कहने पर मुनिराज ने बेटी के माथे की ओर हाथ पसार कर कहा –"हे वायुभूत! मैंने तुझे तेरे पूर्वभव में जो-जो पढ़ाया था, उसे यथावत् सुना।"

इतना सुनते ही उस कन्या को "जातिस्मरणज्ञान" हो गया, जिसमें उसे अपने पूर्वभव वायुभूत की पर्याय में मामा के पास पढ़ा हुआ सम्पूर्ण जिनागम का सार स्मृतिपटल पर प्रत्यक्षवत् प्रतिभासित होने लगा।

ज्यों ही उसने अपने पूर्वभव में पढ़े हुए संस्कृत-प्राकृत भाषा में आध्यात्मिक छंद गा-गाकर सुनाना प्रारम्भ किया, जिन्हें कभी न उस लड़की ने सुने-पढ़े थे और न उसके पिता ने। अतः उन्हें सुनकर उसका पिता आश्चर्यचकित तो था ही, गद्-गद् भी था।

जब अनन्तमती का पिता पानी-पानी हो गया तो मुनिराजश्री ने उसे उसकी पुत्री के पूर्वभव का सारा वृत्तान्त बता दिया, जिसे सुनकर यज्ञदत्त बहुत प्रभावित हुआ और मुनिश्री का नानाप्रकार से बहुमान प्रगट करता हुआ कृतज्ञता प्रगट करने लगा।

आचार्यश्री ने अपने प्रवचन का उपसंहार करते हुए कहा – "यदि हम भी अपनी संतान को सुखी, समुन्नत, सदाचारी और सबतरह से समृद्ध देखना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम भी उनमें ऐसी ही धार्मिक व नैतिक संस्कार डालें जैसे वायुभूत के मामा ने अपने भानजे में डाले थे।

देखो, अपने किसी कुटिल परिणाम के फलस्वरूप वायुभूति स्त्री पर्याय में चला गया, तथापि उसके पुराने संस्कारों के कारण उसे पुनः सन्मार्ग मिल गया।

कदाचित् वायुभूत भी अपने भाई अग्निभूत की ही भाँति संस्कार-विहीन रह जाता तो आज उसका क्या होता?"

ज्ञान बैठा-बैठा सोच रहा था, महाराजश्री ठीक ही कह रहे हैं। देखो न! विज्ञान भी तो अपने दादाश्री द्वारा प्रदत्त बाल्य-कालीन संस्कारों के कारण ही तो इस ओर आकर्षित हुआ है, अन्यथा किसी की क्या ताकत जो उसे इस मार्ग पर ले आता।

जंगल में जमीन पर पड़े हुए वृक्षों के बीज जिसतरह हवा-पानी पाकर अपने आप अंकुरित हो जाते हैं, उसी भाँति प्राणियों के जन्म जन्मान्तरों के पूर्व संस्कार अनुकूल वातावरण पाकर विकसित हो जाते हैं। यदि जमीन में बीज ही न पड़ा हो तो अकेला हवा और पानी आदि बरसाती वातावरण क्या कर सकता है? चिंगारी ही न हो तो अकेली हवा और ईंधन अग्नि उत्पादन नहीं कर सकते।

धन्य हैं वे माता-पिता जो अपनी संतान को भौतिक धन-वैभव के साथ-साथ धर्म के संस्कार भी दे जाते हैं. णमोकार मंत्र भी दे जाते हैं और दे जाते हैं नित्यबोधक जिनवाणी, जिसे होनहार बालक समय पाकर पढ़ते हैं और लाभान्वित होते हैं।

जिनवाणी इस अर्थ में नित्यबोधक है कि उसे जब जी चाहे उठाकर पढ़ा जा सकता है। इस कलिकाल में जब सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि दुर्लभ है, सच्चे गुरु भी हरसमय उपलब्ध नहीं हो सकते, क्योंकि उनकी वृत्ति स्वाधीन है, अतः सहजता से उनका समागम भी संभव नहीं है और रात में तो वे बोलते भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में एक जिनवाणी ही तो हमारे लिए शरणभूत है। पता नहीं जिनवाणी कब-किसके लिए विज्ञान की तरह वरदान बन जावे। सुषुप्त संस्कारों को जगाने वाली जिनवाणी ही तो है। विज्ञान के सुषुप्त संस्कार भी तो सत्साहित्य के अध्ययन से ही जागृत हुए हैं, अन्यथा वह तो कभी मन्दिर भी नहीं जाता था। बस, इतनी भी गनीमत समझो कि वह प्रतिदिन प्रातः शाम घर पर ही णमोकार मंत्र की जाप कर लेता था। सो वह भी पिताजी की दी हुई विरासत समझकर। मात्र उन्हें सम्मान देने के लिए, अन्यथा उसे तो मानो धरम-करम से कुछ सरोकार ही नहीं था।

यह सोचते-सोचते ज्ञान ने संकल्प किया कि – अब मैं इसी धार्मिक संस्कारों के प्रचार-प्रसार के काम को सर्वाधिक महत्त्व दूंगा। इससे बढ़कर दुनिया में और कोई काम नहीं हो सकता। □

१३

'संतोषी सदा सुखी, बहुधंधी बहु दुखी' का सिद्धान्त अब धीरे-धीरे डॉ० धर्मचंद की समझ में आने लगा था; क्योंकि बहुधंधी होने के कारण वे राजू पर उतना ध्यान नहीं दे पाये, जितना उसके जीवन के विकास के लिए आवश्यक था। उनके एकमात्र पुत्र राजू के आवारा होने में उनका धनोपार्जन में अतिव्यस्त रहना भी एक कारण था। पुत्र के लोभ में उन्होंने परिवार तो बढ़ा ही लिया था, पर अब उसके भरण-पोषण के लिए धनोपार्जन में उन्हें दिन-रात एक करने पड़ रहे थे।

यही कारण था कि राजू भी किसी कक्षा में अच्छे अंकों से कभी सफल नहीं हुआ। यद्यपि उसकी बुद्धि अच्छी थी, यदि उसे पढ़ने का मौका मिलता तो वह प्रथम श्रेणी में ही हमेशा उत्तीर्ण होता। पर, दादा-दादी और बहिनों के काम के दबाव में वह कभी ढंग से पढ़ ही नहीं पाया था।

डॉ० दम्पति की भी अपनी एक समस्या थी, वे बेचारे मजबूर थे, उनका धनार्जन में उलझने का सबसे बड़ा कारण उनकी तीन-तीन जवान कन्यायें थीं। वैसे वे स्वभावतः संतोषी प्राणी थे, पर परिस्थिति ही कुछ ऐसी निर्मित हो गई थी कि उन्हें धनार्जन के सिवाय दूसरा कोई रास्ता ही दिखाई नहीं देता था।

तीनों ही लड़कियाँ उच्च शिक्षा ले रही थीं, तीनों की शादी की समस्या सामने अलग मुँह बाये खड़ी थी, दुर्भाग्य से लड़कियाँ भी रूप-रंग और कद-काठी में इतनी सुन्दर और आकर्षक नहीं थीं कि कोई भी उन्हें ललककर ब्याह कर ले जाये। अतः दहेज के लिए उन्हें अधिक से अधिक धनार्जन करना उनकी आवश्यक आवश्यकता बन गई थी।

दहेज न लेने का संकल्प करना तो उन्हें आसान था, पर दहेज न देने की बात तो सोचना भी उन्हें पागलपन-सा लगता था; क्योंकि वह अपने हाथ की बात ही नहीं है।

वे सोचते थे "आदर्श की बातें कोई कितनी भी करले, पर जिसके घर में एक के बाद एक – तीन-तीन कन्यायें व्याह के योग्य हो गई हों, उसके दिल पर क्या बीतती है ? यह तो उसी के दिल में झांककर देखना पड़ेगा।

जो स्थिति घूस के लेन-देन पर घटित होती है, वही स्थिति आज दहेज की है। घूस न लेने की प्रतिज्ञा तो हम-तुम कोई भी कर सकता है, पर घूस न देने की कसम कोई कैसे खा सकता है ? खासकर वहाँ, जहाँ घर से बाहर कदम रखा नहीं कि हर कदम पर टुकड़े डालने पड़ते हों; घूस के भूखे भिखारियों को।

यदि हम ट्रेन में बैठने के लिए टी.टी.आई. को बीस का नोट नहीं चढ़ायें तो वह भी हमें ट्रेन में नहीं चढ़ने देता है। बोलो ! कोई क्या करे ऐसी स्थिति में ? यात्रायें तो करनी ही हैं, कभी-कभी तो आरक्षण के बावजूद भी टी.टी. का टैक्स चुकाना आवश्यक हो जाता है, वरना क्या प्रमाण कि यही तुम्हारा नाम है ? और नाम की स्पेलिंग-मिस्टेक होना तो आम बात है ही।

ये तो अब विश्वव्यापी समस्यायें बन गई हैं ? इनके बारे में अधिक सोचना ही पहाड़ से माथा मारने जैसा लगता है। हाँ, यदि दहेज और घूस लेने वालों को ही थोड़ा-बहुत नैतिकता का पाठ मिलता रहे और शासन भी थोड़ा अनुशासन की ओर ध्यान दे तो शायद कुछ सुधार हो सकता है। पर शासन को अपनी कुर्सी बचाने से ही फुरसत नहीं है, अनुशासन-प्रशासन देखे कब ?

घूस देने वाले भी अपराधी हो सकते हैं, पर उनका अपराध शायद अक्षम्य अपराध नहीं है, क्योंकि ऐसा कौन है जो पसीने की कमाई को पानी में बहाना चाहेगा; पर उसकी मजबूरी है, बाध्यता है।

यदि वजन रखे बिना फाइल ही टेबल पर से उड़ जाए – गायब हो जाए तो उसे दबाने और समय पर आगे बढ़ाने के लिए वजन तो रखना ही पड़ेगा न ? यदि कायदे से ही सब काम समय पर हो जायें तो कोई वे-कायदा काम क्यों करेगा ? खैर ! अभी डॉ० धर्मचंद की समस्या घूस की नहीं, दहेज की थी।

डॉक्टर ने बहुत सोचा, पर वह बिना दहेज दिए निवृत्त नहीं हो पाया। खैर, जो हुआ सो हो गया, डॉक्टर दम्पति अब संतुष्ट थे। अब वे तीनों बेटियों की शिक्षा और शादियां सम्पन्न कर चुके थे,

उनके माता-पिता भी दिवंगत हो गये थे, अब केवल पति-पत्नी और 'हम दो और हमारा एक' – कुल तीन ही प्राणी घर में रह गये थे।

राजू पढ़ नहीं सका था, उसका उन्हें उतना अफसोस नहीं था, पर वह इस दरम्यान आवारा हो गया था, यह उनकी चिंता का विषय अवश्य था।

उन्होंने सोचा – नौकरी तो वैसे भी नहीं करानी थी। न बन सका डॉक्टर तो न सही, मेडीकल स्टोर्स खुलवा देंगे। वह भी आरामदायक धंधा है, रिस्क भी उसमें कुछ नहीं है, पर पहले इसमें सदाचार के संस्कार और इसका यह आवारापन तो समाप्त हो, इसके लिए इसे कुछ दिन को कहीं बाहर ऐसे स्थान पर रखना होगा, जहाँ इसे थोड़ा सदाचार का वातावरण मिले। आवारा दोस्तों का साथ छूटे, साथ ही इसकी कम से कम ग्रेज्युएशन तक पढ़ाई भी हो जावे। आजकल बिना ग्रेज्यूएट हुए तो कोई पढ़ा-लिखा ही नहीं कहलाता। तब तक यह शादी के योग्य भी हो जायेगा। अभी उम्र ही क्या है ? बीस बरस का ही तो है। इतनी जल्दी धंधे में लगाकर भी क्या करेंगे ? कमाई की तो कोई समस्या है नहीं। न भी कमाये तो इसके खर्च लायक ५-६ हजार रुपये मासिक आय तो मकान किराया और बैंक ब्याज से ही हो जायेगी।

पर खाली दिमाग शैतान का घर होता है, अतः धंधे में उलझाना भी जरूरी है। पर अभी नहीं, कम से कम तीन बरस को इसे कहीं बाहर अवश्य भेजना चाहिए।

इतने लंबे सोच-विचार के बाद भी उन्हें यह समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर भेजें तो भेजें कहाँ ? कोई छात्रावास ? कोई होस्टल ? कोई रिश्तेदारी ? कहीं कोई उपयुक्त जगह नजर नहीं आ रही थी। सोचते-सोचते संयोग से बैठक की सेंटर टेबल पर नजर चली गई, उस पर एक मासिक पत्रिका पड़ी थी, जिसके चौथे कवर पृष्ठ पर ही बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था, 'आत्मार्थी छात्रों को अपूर्व अवसर'। डॉक्टर ने कौतूहलवश यों ही उठाकर देखा, दो-चार लाइनें पढ़ीं तो उन्हें ऐसा लगा कि यह तो राजू के हिसाब से बहुत ही अच्छी जगह है। क्यों न इस जैन सिद्धान्त महाविद्यालय से संपर्क किया जाये ?

डॉक्टर जिसकी खोज में था, घर बैठे ही उसका समाधान उसे मिल गया था, इसलिए वह बहुत प्रसन्न था।

डॉक्टर तो कभी उस पत्रिका का ग्राहक बना नहीं था। आज तक उस पत्रिका को कभी उठाकर पढ़ा भी नहीं था। डॉक्टर के पिताजी जरूर जैन पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने के शौकीन थे और इनके आजीवन सदस्य भी थे। वे स्वयं भी पढ़ा करते थे और मरीजों को पढ़ाने के लिए डिस्पेंसरी के वेटिंग रूम में भी रख दिया करते थे।

दादाजी की भावनाओं के अनुसार वह सिलसिला अब और अधिक व्यवस्थित कर दिया गया था। क्योंकि मरने के बाद माता-पिता के प्रति भक्ति-भावना कुछ अधिक ही हो जाती है। उनके जीते-जी भले ही हम उनसे पानी की भी न पूछ पाये हों, पर मरने के बाद उनके चित्रों पर मालायें अवश्य डालते हैं। काश! उनके जीवनकाल में यदि हम उनकी भावनाओं की कुछ कद्र कर पायें तो उनकी आत्मा को अधिक संतुष्टि दे सकते हैं। अस्तु!

सर्वप्रथम तो डॉक्टर ने मन ही मन अपने स्वर्गीय पूज्य पिताजी को धन्यवाद दिया; क्योंकि धन तो वे दे ही गये थे, धर्म के साधन भी दे गये थे और दे गये थे समस्या का समाधान, जिसके कारण वह आज अधिक परेशान हो रहा था।

संयोग से राजू भी मैट्रिक में सैकिण्ड डिवीजन उत्तीर्ण हो गया था। बुद्धि में तो तेज था ही, अब उसे पढ़ने को समय भी पर्याप्त मिल गया था।

"जो लौकिक कार्यों में होशियार होते हैं, वे ही पारलौकिक कार्यों में भी सफल होते हैं, केवल उसकी वृत्ति बदलने की देर है। सो वह काम वहाँ आसानी से हो ही जायेगा" – ऐसा विचार कर डॉक्टर ने राजू को वहाँ भेजने का निश्चय कर लिया था।

पर जैसे ही यह बात उसने अपनी पत्नी, बेटियों और रिश्तेदारों से कही तो कोई भी इस बात के लिए राजी नहीं हुआ। सभी एक स्वर में डॉक्टर की बात का विरोध करने लगे।

अरे! क्या धरा है उस पढ़ाई में? वहाँ भेजकर कोई पण्डित थोड़े ही बनाना है। नहीं, नहीं; वहाँ नहीं जायेगा।

बड़ी लड़की बोली – "पापा! तुम्हें पता नहीं, वहाँ जाकर तो लड़के पूरे पण्डित बन जाते हैं, पण्डित। फिर वे हमारे-तुम्हारे साथ खाना-पीना भी पसंद नहीं करते। उनके बड़े नखरे बढ़ जाते हैं। फिर वे रात में नहीं खाते, अनछना पानी नहीं पीते, आलू-प्याज

आदि कोई भी जमीकंद नहीं खाते और तो और दहीबड़ा, चाट और बाजार की मिठाइयाँ भी नहीं खाते, पता नहीं क्या-क्या नहीं खाते ? अच्छी तरह सोचलो, समझलो । हमारी दिल्ली से एक लड़का गया था । वह वहाँ ऐसा बिगड़ा कि वहां से आकर अपने माँ-बाप को ही उपदेश देने बैठ गया । उन बिचारों को केवल उसके खातिर दिन में ही खाना बनाना पड़ता, आजकल आलू-बैंगन के सिवाय और साग-सब्जी आते ही क्या हैं बाजार में ? पर उन हजरत को यह कुछ चलता नहीं था, इस कारण उसकी माँ परेशान रहती है । कहती है – "रोज-रोज क्या बनाकर रख दें, अपनी तो कुछ समझ में नहीं आता । अच्छा आ गया पण्डित बनके । जब भी उसकी पत्नी पिक्चर का प्रोग्राम बनाती, तभी उन्हें प्रवचन में जाना होता है, जब वह गर्मियों की छुट्टी बिताने के लिए शिमला का प्रोग्राम बनाती तो वही टाइम उनके शिक्षण शिविर में जाने का होता । एक बात हो तो अलग । उसकी माँ अलग अपने दुःख रोती फिरती, पत्नी अलग । न बाबा, अपने को यह सब पसंद नहीं है । फिर आपकी मर्जी ।"

मंझली लड़की ने छाप लगाते हुए कहा – पापा ! दीदी ठीक ही कह रही हैं । हमारे बम्बई का भी एक लड़का वहाँ पढ़ने गया था । वह तो और भी दो कदम आगे निकल गया । कहता है –"मैं तो शादी ही नहीं करूगा, क्या धरा है इस असार संसार में ? मनुष्य भव ऐसे बार-बार थोड़े ही मिलता है । वह आत्मा आत्मा ! भगवान आत्मा ! ही करता रहता है । वैसे प्रवचन बहुत अच्छे करता है, हजारों लोग उसकी सभा में आते हैं और बिल्कुल शांत बैठे-बैठे उसी के मुँह की ओर टकटकी लगाये देखा करते हैं, पर क्या बतायें, उसे भगवान आत्मा की बीमारी हो गई । खाने-पीने के मामले में भी वही हाल जो दीदी के दिल्ली वाले का है ।

इसलिए मेरा तो ऐसा विचार है कि आप तो किसी अच्छे होस्टल में प्रवेश दिला दो, वहाँ इस बिचारे को पढ़ाई का और होम-वर्क करने को खूब समय भी मिल जायेगा । जब हम पढ़ते थे तो इस बिचारे को होमवर्क को ही टाइम नहीं मिलता था । जब किसी भी काम को बोला तो बोलता – दीदी मेरा होमवर्क कौन करेगा, हूँह ।"

सब अपनी-अपनी कहे जा रहे थे और डॉक्टर सब की बातों को शांति से सुन रहा था । अंत में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि एक

बार स्वयं वहाँ जाकर सब अपनी निजी आँखों से देखना-समझना चाहिए। सुनी-सुनायी सब सच नहीं होती। वास्तविकता क्या है वहाँ जाने से ही पता चलेगा।

होस्टल वगैरह तो व्यर्थ की बकवास है, उसकी दुर्दशा तो मैंने स्वयं देखी भी है।

डॉ० धर्मचन्द ने सबकी बातें सुनकर अपनी राय कायम करते हुए कहा – "देखो ! होस्टल में तो मैं भूलकर भी नहीं भेजूंगा। वहाँ तो अच्छे-अच्छे लड़के बिगड़ जाते हैं, तुम राजू की बात करती हो। देखा नहीं तुमने विज्ञान को कितना सीधा-सादा सज्जन लड़का था वह, फिर उसे तो उसके दादाश्री द्वारा बचपन में ४-५ वर्ष तक कुछ सदाचार के संस्कार भी मिल गये थे, फिर भी वह होस्टल में जाकर पथभ्रष्ट हो गया था।

वहाँ बिगड़ने में लड़कों के बजाय वहाँ के वातावरण का ही अधिक हाथ होता है। जिस तरह ऊँट पर बैठने वाले को मलकना ही पड़ता है। यदि सवार ऊँट की मलक में मलक न मिलाये तो उसकी कमर ही टूट जाए। यही स्थिति वहाँ के आवासी छात्रों की होती है। उन्हें भी बाध्य होकर उन परिस्थितियों से समझौता करना ही पड़ता है। अन्यथा उन्हें होस्टल में रहना कठिन हो जाता है।

और तो और अधिकारियों को भी छात्रों से मिलजुल कर ही अपना निर्वाह करना पड़ता है, अन्यथा उनकी हूटिंग करने में भी उन्हें क्या देर लगती है ? और अधिकारियों की भी ऐसी क्या अटल रही है, जो व्यर्थ ही झंझट मोल लें।

शराब और सिगरेट तो मानो वहाँ की सभ्यता में शामिल हो गये हैं। आये दिन सिनेमा, संगीत-नृत्य और नौटंकियाँ देखना भी उनकी चर्या के अभिन्न अंग बन जाते हैं। जो शामिल न होना चाहे तो भी उसे शामिल होना पड़ता है, अन्यथा नाना यातनायें सहनी पड़ती हैं सो अलग। और पढ़ तो सकते ही नहीं, लाइट गुम कर दी जायेगी; पुस्तकें गायब कर दी जायेंगी, और भी जो सम्भव होगा, कुछ भी करने से नहीं चूकेंगे।

अतः होस्टल का तो तुम नाम ही मत लो, वहाँ भेजने का तो प्रश्न ही नहीं है। रही बात सिद्धान्त महाविद्यालय में भेजने की, सो उसके बारे में भी पूरी छानबीन और तलाश करके और पूर्ण संतोष होने पर ही निर्णय करेंगे। अतः तुम निश्चिन्त रहो। □

(१४)

"काम ! काम ! ! काम ! ! ! जब देखो तब काम, घर में काम, बाहर काम, जहाँ जाओ वहाँ काम – इसकारण न सुबह चैन न शाम को चैन, न दिन में चैन न रात में चैन, चौबीसों घंटे बेचैन। ऐसा काम भी किस काम का ? जिस के कारण खाना-पीना भी हराम हो जाता हो। बाल-बच्चों को संभालना भी कठिन हो जाता है।

इस काम के भूत ने ही तो राजू को बेकाम कर दिया है। उसकी पढ़ाई-लिखाई पर पानी फेर दिया है, उसे आवारा बना दिया है, उसे परिवार के प्रति विद्रोही बना दिया है, और बना दिया है दुर्व्यसनी और दुराचारी।

केवल धन कमाना ही तो जीवन का लक्ष्य नहीं है। धन तो केवल साधन है न ? साध्य तो नहीं, पर हमने उसे साध्य बना रखा है।

अब करना ही क्या है हमें अधिक धन कमाकर। केवल पेट ही तो भरना है, पेटी भरने में तो अब मेरा विश्वास रहा नहीं। देखो न यह उक्ति कितनी सटीक है कि 'यदि पुत्र सुपुत्र है तो भी धन का संचय व्यर्थ है और यदि पुत्र कुपुत्र है तो भी धन का संचय व्यर्थ ही है; क्योंकि यदि पुत्र सुपुत्र है, योग्य है, होनहार है, तो स्वयं धनार्जन कर लेगा। और यदि वह कुपुत्र है, तब सारा अर्जित धन क्षण भर में बर्बाद कर देगा।

इस प्रकार दोनों ही परिस्थितियों में, जरूरत से ज्यादा धनार्जन करना व्यर्थ है। अतः अब तो केवल राजू को सन्मार्ग पर लाने का ही मात्र एक सूत्रीय कार्यक्रम बनाना है। उसी पर पूरा ध्यान केन्द्रित करना है।

जो हो गया सो तो हो ही गया, उसमें सुधार करने के लिए केवल पश्चात्ताप के आँसू बहाना ही काफी नहीं है। जो भी संभव हो वह उपाय करना भी आवश्यक है।"

डॉक्टर धर्मचन्द बैठे-बैठे इन्हीं विचारों में डूबे हुए थे। उनकी पत्नी कनकलता ने उनका ध्यान भंग करते हुए कहा – "चाय-नाश्ता तो समय पर ले लो। अभी थोड़ी देर में मरीजों की भीड़ जमा हो जायेगी, फिर सांस लेने को भी समय नहीं मिलेगा।"

डॉक्टर ने कहा – "कनक ! मैं सोचता हूँ, यदि हम दोनों ही घर की प्रेक्टिस बन्द कर दें तो कैसा रहे ?"

डॉ० कनकलता ने गंभीर होते हुए कहा – "आपका सोचना सही है, पर यह डॉक्टर का पेशा ही ऐसा है कि जो एक बार इसे पकड़ लेता है, फिर व्यवसाय उसे ऐसा जकड़ता है कि उससे पिण्ड छुड़ाना कठिन हो जाता है। हम छोड़ना भी चाहें तो मरीज हमें नहीं छोड़ेंगे।

सवाल अपनी कमाई का ही अकेला नहीं है, पर उन मरीजों का क्या होगा, जो अपने ऊपर विश्वास किये बैठे हैं ? वे कहाँ जायेंगे क्या करेंगे ? और फिर यह एक तरह से समाज सेवा भी तो है।"

डॉक्टर ने मुस्कुराते हुए कहा – "कनक ! यह सब तुम्हारा भ्रम है। यह कोई समस्या भी नहीं है और समाज सेवा भी नहीं। यह तो केवल हमारा पैसा कमाने का तरीका है, तरीका ! अन्यथा सेवा तो हम इससे भी बहुत अच्छी हॉस्पिटल में भी कर सकते थे।

तुम स्वयं डॉक्टर हो, एक ईमानदार डॉक्टर की क्या ड्यूटी है ? यह भी तुम अच्छी तरह जानती हो और अपनी कार्यक्षमता क्या है ? यह भी अच्छी तरह पहचानती हो। जरा, तुम मुझे यह बताओ कि हॉस्पिटल में तुम कितने घंटे में कितने मरीज देखती हो ? और ईमानदारी से कितने देख सकती हो ?"

घर की डिस्पेंसरी में जो तुम्हारी सजगता, सक्रियता और उत्साह रहता है; क्या हॉस्पिटल में भी वैसी ही सजगता, सक्रियता और उत्साह रहता है।

मैं यह मानने को कतई तैयार नहीं हूँ कि हमें हॉस्पिटल में समय नहीं मिलता, इसलिए हम वहाँ का काम यहाँ डिस्पेंसरी में करते हैं। सत्य तो यह है कि हम वहाँ से मरीजों को यहाँ इसलिए बुलाते हैं, ताकि हमें फीस मिले और कमाई हो। हम चाहें तो यहाँ का और वहाँ का सब काम आराम से वहीं कर सकते हैं।

बोलो इस विषय में क्या विचार है तुम्हारा ?"

कनकलता ने कहा – "आप ठीक कहते हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं है, ऐसा ही है। पर……"

डॉ० धर्मचन्द ने कहा – "पर क्या……? आज मरीजों की आम धारणा भी ऐसी ही बन गई है कि एक बार डॉक्टर के घर पर फीस देकर दिखाए बिना वह अस्पताल में ध्यान नहीं देगा; अतः घर पर दिखाने के बहाने १००–५० रुपया जो उसकी फीस हो देना जरूरी है। यदि घर पर फीस दे दें तो वह फीस का रुपया तो कहीं से भी वसूल हो जाएगा। अन्यथा डॉक्टर एक-एक गोली और एक-एक इन्जेक्शन बाजार से लिखेगा, जिसमें सैकड़ों रुपये तो योंही लग जायेंगे। डॉक्टर लाइन में घंटों खड़ा रखेगा सो अलग।"

पर, अब डॉ० धर्मचन्द और कनकलता के साथ यह बात नहीं रही थी। उन्होंने मरीजों की इस धारणा को तोड़ दिया था। अब मरीजों को भी विश्वास हो गया था कि इन डॉक्टर दम्पति द्वारा अब उनका इलाज अस्पताल में ही भली प्रकार से हो जायेगा।

डॉक्टर ने अपनी पत्नी डॉ० कनकलता से कहा – "देखो अब हमें अधिक पैसों की आवश्यकता नहीं है। हम कितना भी जोड़ कर रख जायें, यदि राजू के यही हाल रहे तो सारा धन बर्बाद करने में १०-२० वर्ष तो क्या १०-२० महीनें भी नहीं लगेंगे। और यदि राजू सही राह पर आ गया तो वह और उसके पुत्रों की तो बात क्या, उसके पोतों-पड़पोतों तक को भी कम नहीं पड़ेगा। उसके भाग्य से सहज में ही ऐसे साधन जुट गये हैं।

इसलिए मैंने तो अब निश्चय कर लिया है कि अस्पताल की ड्यूटी के सिवाय पूरा समय राजू के चरित्र-निर्माण और अपने आत्म-कल्याण में ही लगाऊँगा। इसके अतिरिक्त जो समय मिलेगा उसमें समाज के निर्धन और असहाय रोगियों की निःस्वार्थ सेवा करूंगा।

पर अभी कम से कम एक वर्ष तो सब कामों को गौण करके एकमात्र राजू को सन्मार्ग पर लाने में ही लगाना होगा। हमारी लापरवाही से उसके जीवन के साथ जो अन्याय हो गया है, उसके प्रायश्चित स्वरूप जो भी समर्पण करना पड़ेगा, करूंगा। ऐसा किए बिना उसका जीवन तो बर्बाद हो ही जायगा, मेरा शेष जीवन भी सुख शान्ति से नहीं बीत सकेगा।"

माँ तो आखिर माँ ही होती है। पेशे से कनक भले ही डॉक्टर थी, पर पुत्र के प्रति उसका हृदय भी पूर्ण समर्पित था. अतः उसने भी अपने पति का लम्बा भाषण सुनने के पहले ही अपने बेटे राजू के हित में अपनी प्राइवेट प्रेक्टिस छोड़ने का निश्चय कर लिया था और दोनों पति-पत्नी राजू के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के प्रयास में जुट गये थे।

× × ×

राजू अब बच्चा नहीं रहा था. उसमें अब काफी परिवर्तन आ चुके थे। यद्यपि उम्र मे वह अपने मित्र विज्ञान और संजू स काफी छोटा था पर संजू के साथ ही वह अधिक रहा करता था। विज्ञान तो अपने व्यापार में व्यस्त हो ही गया था, संजू भी अपने पिता के काम-काज में हाथ बटाने लगा था। अत राजू का कोई ऐसा खास दोस्त नहीं रहा था जिसके साथ वह अपना मनोरंजन कर सकता। पर आदतें तो जो पड़ चुकी थीं सो पड़ ही गई थीं। अतः जो भी बचे-खुचे छुट-पुट साथी थे, उन्हीं के साथ अनमने मन से समय गुजार रहा था। पर उसके मन में न पढ़ पाने की कुंठा अभी भी बराबर बनी हुई थी। इस कारण वह अपनी बहिनों से भी हृदय से नहीं जुड़ पाया था।

जब कोई बहिनों की बात भी करता था तो उसे उनका स्वयं के प्रति हुआ कठोर और स्वार्थ भरा व्यवहार स्मरण हो आता था और एक अजीब-सी घृणा के साथ उसका मानस उनके प्रति विद्रोह कर बैठता था।

एक दिन राजू के पापा और मम्मी ने बहुत प्यार से राजू को अपने पास बिठाकर अपने दिल का दुःख दर्द बताते हुए उससे कहा – "बेटा आजकल तुम उदास-उदास से रहते हो। हम जानते हैं कि तुम्हारे दोस्त संजू वगैरह का साथ छूट जाने से तुम अकेले पड़ गये हो, इस कारण तुम्हें यहाँ अच्छा नहीं लगता होगा।

खैर ? यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हम तुम्हें किसी अच्छे छात्रा-वास में भर्ती कराना चाहते हैं जहाँ तुम आराम से ग्रेजुएट भी हो सको और अच्छे मित्रों का साथ मिलने से तुम्हारी ये छोटी-मोटी जो सिगरेट आदि पीने की आदतें पड़ गई हैं, ये छूट जावें।"

राजू को असमय में पढ़ाई छूट जाने से उसे भी कम दुःख नहीं था; क्योंकि उसकी पढ़ने की तमन्ना तो थी ही, पढ़ने में उसकी गहरी

रुचि भी थी। उसके अवचेतन मन में पढ़ न पाने की पड़ी कुंठा समय-समय पर माता-पिता और परिवार से भी विद्रोह कर बैठती थी, क्योंकि उसका पढ़ना पारिवारिक परिस्थितिवश ही छूटा था न? पढ़ाने के बाद खाली दिमाग हो जाने से उस पर शैतान सवार हो गया था।

जब उसके पापा ने पुनः पढ़ाई की बात कही तो उसका मन उत्साहित हो उठा और उछल पड़ा वह प्रसन्नता से। उसने सोचा-"अच्छा है छात्रावास में रहने से पढ़ाई को भी पूरा समय मिल जायगा और अच्छे मित्र भी मिल जायेंगे। इधर मम्मी-पापा को मेरी आदतों से जो परेशानी है, यदि वे आदतें बदल गईं तो वे भी प्रसन्न हो जायेंगे। मैं अपनी दीदियों को भी बता दूंगा कि मैं गधा हूँ या एक अच्छा इन्सान?" अतः उसने हाँ भर ली।

डॉ० घमंचन्द ने सोचा –"अब राजू २१ वर्ष का हो गया है अतः अब ३-४ वर्ष से अधिक नहीं पढ़ाया जा सकता, क्योंकि २४-२५ वर्ष की उम्र ही शादी के लिए सर्वोत्तम है।

जिसतरह २२ वर्ष से कम उम्र में शादी करना हानिकारक है, उसीतरह २५-२६ वर्ष के बाद अधिक उम्र में शादी करना भी शरीर विज्ञान व मनोविज्ञान की दृष्टि से हानिकारक है।

अभी भी अपने पास राजू की एजूकेशन के लिए ३-४ वर्ष तो हैं ही। क्यों न इन ३-४ वर्षों में उसे जैनदर्शन में ग्रेजुएशन करा लिया जाये? जैसाकि उस दिन मासिक पत्रिका में पढ़ा था। उसमें स्पष्ट लिखा था कि 'राजस्थान विश्वविद्यालय में न केवल जैनदर्शन का, बल्कि सभी भारतीय दर्शनों के एवं संस्कृत साहित्य व संस्कृत व्याकरण आदि विषयों के पाठ्यक्रम हैं। और हजारों की संख्या में सभी विद्यार्थी इन विषयों की परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं।

और हाँ, वहाँ के स्नातक चाहें तो आई.ए.एस., आर.ए.एस. आदि किसी भी प्रतियोगिता परीक्षा में सम्मिलित हो सकते हैं।

जब यह बात राजू को बताई जायेगी तो वह जरूर ही इस पाठ्यक्रम को पढ़ने के लिए तैयार हो जायेगा, क्योंकि उसके मन में न पढ़ पाने की कुंठा तो अभी भी बनी है, उसके विद्रोही होने का सबसे प्रमुख कारण भी यही है।

अब किसी अन्य विषय को पढ़ाने से कोई लाभ नहीं है। व्यवसाय तो अपना ही करना है। जैनदर्शन में ग्रेजुएशन कराने से हमारे लिए भी 'एक पंथ दो काज' ही नहीं, बल्कि 'एक पंथ अनेक काज' वाली कहावत चरितार्थ हो जायेगी। ग्रेजुएट तो वह हो ही जायेगा। जैन-दर्शन में ग्रेजुएट होने से उसे जैनधर्म का ज्ञान भी हो जायेगा, और उसका आचरण भी सुधर जायेगा।

जब रिपट ही पड़े हैं तो हर-हर-गंगे करके स्नान ही क्यों न कर लिया जाय ? लोगों को हंसने का मौका ही क्यों दें ? अन्यथा लोग कहेंगे 'ये डॉक्टर तो कमाई में उलझे रहे और बेटे को आवारा बना लिया।' कल शादी-विवाह करने के भी लाले पड़ सकते हैं। कौन देगा आवारा लड़के को अपनी लड़की ? दुनिया में लड़कों की कमी नहीं, अच्छे लड़कों की कमी है।

और हाँ, धर्म की दो बातें सीखकर आयेगा तो बुढ़ापे में हमें भी तो धर्म सुना-समझा सकेगा। अन्यथा हम भी तो धर्म की दो बातें सुनने को तरस जायेंगे।

परलोक में धर्म के सिवाय और साथ जाता ही क्या है। अतः राजू को जैनदर्शन पढ़ाना ही सर्वोत्तम रहेगा।"

यह विचार कर डॉक्टर दम्पति ने अपने बेटे राजू को जैनदर्शन में शास्त्री तक अध्ययन कराने हेतु उसी जैन महाविद्यालय में प्रवेश कराने का मन बना लिया, जिसका उन्होंने विज्ञापन पढ़ा था।

जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान पाकर वे अपने को हल्का-सा महसूस करते हुए शयनकक्ष में विश्राम करने चले गये। □

१५

फागुन का महीना था, न अधिक गर्मी न अधिक सर्दी, यात्रा के लिए सबसे अच्छा समय देखकर डॉक्टर दम्पत्ति ने विचार किया – "यदि राजू को जुलाई सत्र में उसी छात्रावास और विद्यालय में प्रवेश दिलाना है तो अभी से प्रयत्न करना होगा, एतदर्थ क्यों न कल – परसों से ही १५ दिन का तीर्थयात्रा का कार्यक्रम बना लिया जाये, शुभकाम में देर क्यों ?

वैसे तो वहाँ जाकर देखने जैसी कोई बात नहीं थी, पत्राचार से सम्पर्क द्वारा भी काम बन सकता था; पर बेबी, बबली आदि ने व्यर्थ का बबेला मचाकर वहाँ के विरुद्ध वातावरण बनाकर संशय में जो डाल दिया था; अतः जब तक अपनी आँखों से वहाँ की स्थिति न देख लें, तब तक स्वयं को भी संतोष नहीं होगा और दूसरों से भी दृढ़ता से नहीं कह सकेंगे।"

उनका यह सोचना उचित भी था, क्योंकि दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है। उन्हें भय था कि राजू दुबारा कहीं गलत संगति में न पड़ जाये। अतः उन्होंने एक बार स्वयं उस संस्था के वातावरण को देखने का निश्चय किया था।

तीर्थयात्रा का कार्यक्रम तो बन गया था, पर वे अभी तक यह निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि असलियत का पता कहाँ से/कैसे चल सकता है ? सोचते-सोचते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पहले यात्री के रूप में वहाँ दो-तीन दिन ठहर कर वहाँ की एक-एक गतिविधियों पर दृष्टि डालना चाहिए एवं वहाँ के आवासी छात्रों से सीधा सम्पर्क करके उनकी मनःस्थिति एवं वहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए।

ऐसा विचार करके वे यात्रा की तैयारी में लग गये।

× × ×

दूसरे दिन ही सवेरा होते-होते डॉ० धर्मचन्द, उनकी पत्नी एवं राजू उस जैन नगरी में जा पहुँचे, जहाँ वह विद्यालय स्थापित था।

ज्यों ही वे प्रवेश द्वार पर पहुँचे तो प्रथम तो वे भवन की भव्यता से ही बहुत प्रभावित हुए। सवेरे के पांच बज रहे थे, आते ही मंगलाचरण के रूप में जिनालय में से सामूहिक प्रार्थना की गूँजती मधुर ध्वनि ने उनका स्वागत किया। तत्पश्चात उनके कानों में पूरे प्रांगण में गूंज रही वैराग्यरस से ओत-प्रोत बारह भावना की संगीतमय ध्वनि ने उनके हृदयपटल पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। तत्काल बाद टेप प्रवचन के माध्यम से 'अहा···हा···भगवान आत्मा' के स्वर सुनाई देने लगे। साढ़े छः-सात बजते-बजते जिनालय में भक्तों की भीड़; फिर क्रमशः कक्षायें, प्रवचन, छात्रों की सामूहिक पूजन होते-होते साढ़े नौ बज गये।

बारहमासी प्रातः पांच से साढ़े नौ बजे तक एक के बाद एक और एक से बढ़कर एक दैनिक कार्यक्रम देखकर वे चकित रह गये। कहाँ मिलता है ऐसे मंगलमय वातावरण सहज संयोग ?

सुबह से शाम तक और शाम से सुबह तक पूरे चौबीस घंटे की कितनी व्यवस्थित और संतुलित है यह दिनचर्या ? जिसमें न एक मिनट फालतू है और न विद्यार्थियों पर अनावश्यक बोझ। लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के जीवन के विकास के लिए संतुलित साधन, व्यवस्थित समय का निर्धारण और सभी प्रकार से शुद्ध सात्विक वातावरण।

खेल-कूद से लेकर खान-पान तक और आध्यात्मिक अध्ययन से लेकर लौकिक पत्र-पत्रिकाओं की समुचित व्यवस्था। सभी छात्र स्वतन्त्र रहते हुए भी पूर्ण अनुशासित, आतिथ्य सत्कार में अग्रणी, पूर्ण प्रसन्न, हंसमुख, शांत, सरल और परस्पर में बंधुत्वभाव से रहते हुए एक-दूसरे के सुख-दुःख में समभागी और समर्पित। न कोई शिकायत न शिकवा और न कोई असंतोष की भाषा। जैसा जो उपलब्ध उसी में संतुष्ट।

यह सब देखकर डॉक्टर दम्पत्ति तो संतुष्ट हुए ही, राजू भी वहाँ रहने के लिए मानसिक रूप से तैयार हो गया था। पर डॉक्टर धर्मचन्द ने सोचा – "यह बाहरी वातावरण तो किसी विशिष्ट व्यक्तित्व के दबाव से या उसके सहज प्रभाव से बनावटी भी हो सकता है नकली भी हो सकता है। इसकी अंतरंग स्थिति का परिचय तो वहाँ के कार्यकर्ताओं और छात्रों से बात करने से ही स्पष्ट हो सकेगा।"

छात्रों की मनस्थिति जानने के लिए डॉक्टर ने एक-एक करके अनेक छात्रों से सम्पर्क किया। सब की लगभग यही रिपोर्ट थी कि "घर और बाहर की सुख-सुविधाओं में तथा व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवस्थाओं में जो अन्तर होता है, उसे ध्यान में रखकर देखें तो आज ऐसी सुविधायें और प्रगति के अवसर अन्यत्र दुर्लभ हैं।"

छात्रों ने बताया "जो छात्र गाँव और कस्बों से आते हैं या मध्यम घरों से आते हैं, उनके लिए तो यह स्वर्ग सा लगता ही है, साथ ही जो घर का बहुत ही आरामदायक जीवन छोड़कर आते हैं वे भी यहाँ के आध्यात्मिक वातावरण में थोड़ा कठोर जीवन जीना सीख लेते हैं। उन्हें भी फिर घर का वह भोग प्रधान आरामदायक जीवन अच्छा नहीं लगता।"

छात्रों के साथ हुई बातचीत के दौरान डॉ० धर्मचन्द ने एक छात्र से पूछा – "आप लोगों को यहाँ अपने माता-पिता और कुटुम्ब परिवार तथा मित्रों की याद तो सताती ही होगी ?"

एक छात्र का उत्तर था – "यहाँ हमारे माता-पिता और परिवार के लोग तो नहीं हैं, पर हमें माता-पिता और परिवार जैसा स्नेह पूर्ण वातावरण यहाँ मिल जाता है और मित्रों की क्या कहें ? पांच-दस मित्रों को छोड़कर आते हैं और पचास-साठ नये मित्र मिल जाते हैं। अतः हमें यहाँ ऐसा लगता ही नहीं कि हम घर से दूर कहीं बाहर रह रहे हैं। फिर समय-समय पर घर जाने की छुट्टियाँ भी मिल ही जाती हैं। यहाँ भी हमारे घर वाले और रिस्तेदार आते रहते हैं।"

डॉक्टर ने अगला प्रश्न किया – "यहाँ भोजन में जमीकंद नहीं बनता, बेसन व छाँछ के मिश्रण से बनने वाले कढ़ी आदि स्वादिष्ट वस्तुयें कुछ भी नहीं बनतीं, आपके घर जैसा भोजन भी नहीं बन पाता, इससे आप लोगों को असुविधा नहीं होती ?"

दूसरे छात्र ने आत्मविश्वास के साथ उत्तर दिया "यह बात सच है कि भोजन सबके मन का नहीं बनता, बन भी नहीं सकता; क्योंकि यहाँ विभिन्न प्रान्तों के विभिन्न भाषा-भाषी छात्र रहते हैं और सबके खान-पान और रहन-सहन की संस्कृतियों और रुचियाँ भिन्न-भिन्न होतीं हैं। किसी को मीठा पसंद है तो किसी को तीखा। यदि हमारे घरों में भी ऐसा करना पड़े हो हम वहाँ एक-दो दिन को भी नहीं निभा पाते तो यहाँ बारहों मास ऐसा कैसे संभव हो सकता है ? पर जो बनता है वह एक अच्छे स्तर का बनता है।"

दूसरे, हम लोग पढ़ने के लिए आते हैं। पढ़ना ही हमारा मुख्य लक्ष्य है, अतः हम लोग भोजन सम्बन्धी छोटी-मोटी कमियों पर ध्यान नहीं देते. देना भी नहीं चाहिए। सामूहिक व्यवस्था में जो संभव होगा, वही तो किया जायेगा। घर जैसी सुविधायें तो घर पर ही सम्भव हैं न ?

आप अपने को ही देखिये न ! आप यात्रा पर निकले, तो क्या आपको हर जगह घर जैसी सुविधायें मिल रहीं हैं ?

रही बात जमीकन्द और द्विदल आदि सब्जियों के न बनने की, सो जैन होने के नाते जिनमें त्रस और बहुस्थावर जीवों की हिंसा हो – ऐसा हिंसाजनित भोजन तो अभक्ष्य होने से खाने लायक ही नहीं है।

जिसमें असंख्य सूक्ष्म त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती हो, वह अभक्ष्य भोजन यह अहिंसक समाज कैसे खा सकता है ?"

डॉक्टर ने कहा – 'यह अहिंसक जैन समाज क्या कर सकता है और क्या नहीं – यह तो जाने दो। तुम तो अपनी कहो. यहाँ बनता नहीं है, इसलिए तुम नहीं खाते हो या कि तुमने अपने दिल से ही इनके खाने का त्याग कर दिया है ?"

दूसरे छात्र ने उत्तर दिया – "प्रारम्भ में प्रवेश के समय तो यहाँ बनते नहीं थे. इस कारण हम खाते भी क्या ? और अब हमें प्रवचनों और कक्षाओं के माध्यम से भली-भांति इनकी हेयता का ज्ञान हो गया है, ये अभक्ष्य है, खाने योग्य नहीं है, यह अच्छी तरह समझ में आ गया; अतः अब हम सब लोगों ने अपने मन से ही उन सबका आजीवन त्याग कर दिया है।

इतना ही नहीं, जब हम अपने-अपने घर जाते हैं तो घरवालों को भी यही समझाते हैं। इससे धीरे-धीरे अब हमारे घरों में भी आलू आदि जमीकंद और दही व दालों के मिश्रण से बनने वाली द्विदल सब्जियाँ नहीं बनती।"

अब तक राजू की झिझक टूट चुकी थी। अतः उसने पूछ लिया – "क्या आप लोग बतायेंगे कि ये अभक्ष्य क्यों होते हैं ?

एक छात्र ने कहा – "हाँ, हाँ जरूर बतायेंगे, क्यों नहीं बतायेंगे ? आप पूछें और हम न बतायें – ऐसा कैसे हो सकता है ? जो खाने योग्य हो वह भक्ष्य और जो खाने योग्य न हो वह अभक्ष्य। इतना तो आप समझते ही हैं न ?"

डॉक्टर ने बीच में अपने डॉक्टरी के मतानुसार कहा – "अरे भाई। ये जमीकंद तो खाने योग्य होते हैं, इनमें ता बहुत सारे विटामिन्स और प्रोटीन यानि शरीर पोषक तत्व होते है तथा शरीर के लिए घातक नहीं, बल्कि लाभदायक हैं, फिर ये अभक्ष्य कैसे हुए ?"

एक मुँह फट छात्र बोला – "डॉक्टर साहब ? माफ करना, अभी आपने अकेले साग-भाजियों के तत्व ही पढ़े हैं। अब आपको इनके सिवाय जैन दर्शन के तत्वों को भी पढ़ना होगा। क्योंकि इन तत्वो के खाते-पीते भी तो यह शरीर पुष्ट नहीं रह पाता। देखिये न ! आप तो सभी तत्व बराबर खा-पी रहे हैं फिर भी........।"

दूसरे छात्र ने उसको रोकते हुए कहा – "अभी पहले डॉक्टर साहब के प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए। यह बात, जो तुम कह रहे हो; प्रथम परिचय में कहने की नहीं है। मित्र ! जरा सभ्यता सीखो।"

उस छात्र की ओर से क्षमा मांगते हुए इस छात्र ने पुन: कहा – "डॉक्टर साहब अभक्ष्यपना केवल अपने स्वास्थ्य के हानि-लाभ से ही सम्बन्ध नहीं रखते। वरन् इनका सम्बन्ध अपने आत्मा की क्रूरता और पर जीवों के घात से भी है, अतः इस सम्बन्ध मे इन अभक्ष्यों का पांच भागों में वर्गीकरण किया गया है – (१) त्रसघात (२) बहुघात (३) नशाकारक (४) अनिष्ट और (५) अनुपसेव्य।

सभी प्रकार का मांसाहार तो चलते-फिरते त्रसजीवों के घात से बनता है, अत: वह तो त्रसघात अभक्ष्य है ही, मुर्गी के सभी प्रकार के अंडों से बने खाद्य पदार्थ भी मांसाहार ही है। जिन अंडों से मुर्गी के चूजे (बच्चे) पैदा नही होते उन अण्डों में भी सूक्ष्म त्रसजीव निरंतर पैदा होते रहते हैं, अत: वे भी मांसाहार ही है। उन्हें शाकाहारी कहकर नहीं खाया जा सकता।

अत: यह सब तो त्रसघात अभक्ष्य हैं ही, इनके अतिरिक्त बासा भोजन, पुराने अचार-मुरब्बा आदि में भी दो-इन्द्रिय आदि त्रस जीव पैदा हो जाते हैं, अत: वह भी त्रसघात अभक्ष्य है।

कोई भी करुणावन्त दयालु व्यक्ति इनका सेवन कैसे कर सकता है ? क्योंकि ये भी तो हम-तुम जैसे हो प्राणी हैं। इनकी हिंसा महापाप है।

शराब और शहद में भी अनंत जीव निरंतर पैदा होते रहते हैं।

शराब तो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होने से अनिष्ट भी है, शहद भले अनिष्ट न हो, पर उसमें न केवल फूलों का रस ही होता है; बल्कि फूलों के रस के साथ असंख्य मधुमक्खियों के अंडे भी मिल जाते हैं। मधुमक्खियों की लार एवं मल-मूत्र भी मिल जाता है; क्योंकि उनके छत्ते में न तो अलग से कोई यूरिनल (पेशाबघर) होता है और न संडास। तथा फूलों का रस लाने के लिए भी उनके पास केवल मुँह ही बर्तन के रूप में होता है, जिसे न धोने-मांजने की व्यवस्था है, न दातुन-कुल्ला करने का कोई टूथपेस्ट और मंजन। वे मक्खियां उसी मुँह से गंदगी भी खाती हैं और उसी मुँह में फूलों का रस भर कर लाती हैं।

अब आप ही सोच लीजिए, मधु (शहद) भक्ष्य है या अभक्ष्य? हमारे विचार से तो शहद खाना तो दूर, छूने लायक भी नहीं है; क्योंकि वह मल मूत्र, और थूक-लार का मधुर मिश्रण है। अतः आज से आप मरीजों को भी वे दवायें न दें, जिनमें मद्य मधु मांस मिले रहते हैं।

दूसरे प्रकार के अभक्ष्य पदार्थ वे हैं, जो बहुत से स्थावर जीवों के घात से बनते हैं, उन्हें बहुघात अभक्ष्य कहते हैं। आलू आदि सम्पूर्ण जमीकन्द इसी श्रेणी में आते हैं।

राजू ने कहा – "आलू, प्याज, लहसन आदि के काटने पर उनमें जीव तो दिखाई देते नहीं, भिन्डी, फली आदि की भांति उनमें लट वगैरह भी नहीं पड़ती, फिर यह कैसे मान लिया जाय कि उनमें जीव होते हैं?"

छात्र ने शास्त्र के आधार से राजू को चुप करने के बजाय युक्ति से समझाकर उसके गले उतारते हुए कहा – "देखो! आलू में अनंत जीव होने का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है, कि वे डलिया (टोकरी) में रखे-रखे भी बढ़ते हैं, हमेशा ताजे से रखे रहते हैं, सूखते नहीं, सड़ते भी नहीं।

जिस तरह हमारे तुम्हारे शरीर में जब तक जीव रहता है तब तक यह शरीर सड़ता नहीं, सड़ान की दुर्गन्ध भी नहीं आती, और प्राणान्त होते ही सड़ने लगता है। यही आलू, प्याज आदि की स्थिति है।"

डॉक्टर ने कहा – "पर्यूषण पर्व में मैंने एक दिन छहढाला पर हो रहे प्रवचन में सुना था कि निगोदिया जीवों की आयु बहुत कम होती है। वे एक स्वाँस में अठारह बार जन्म-मरण कर लेते हैं। स्वाँस भी सांस लेने वाली स्वाँस नहीं, बल्कि हाथ की नाड़ी के एक बार फड़कने को एक सांस कहा गया है, जो लगभग एक मिनट में ८० बार फड़कती है।

जो जीव इतने जल्दी मर-जी लेते हैं, उनका घात कौन कर सकता है ? जब तक उन्हें कोई घात करने की सोचेगा, उसके पहले तो वे न जाने कितने बार जी-मर लेंगे ? और ये ही निगोदिया जीव आलू आदि जमीकंद में हैं – ऐसा कहा जाता है। ऐसी स्थिति में आलू खाने से बहुघात कैसे हुआ ? वे जीव तो आलू न खाने पर भी आलू के डलिया में रखे-रखे भी मर-जी रहे हैं। आलू खाने न खाने से उन निगोदिया जीवों के सुख-दु:ख में क्या फर्क पड़ने वाला है ? वे तो अपनी नियति के अनुसार अपना कर्म फल भोग ही रहे हैं। फिर आलू आदि का त्याग क्यों कराया जाता है ?"

छात्रों में से एक सीनियर छात्र बोला – "डॉक्टर साहब ! आपकी तर्क और युक्तियाँ तो ठीक हैं। और आपने इस विषय पर इतना सोचा सो यह भी बहुत बड़ी बात है, पर जैनधर्म के अनुसार पाप-पुण्य का बन्ध जीवों के मरने न मरने के बजाय खाने वाले के परिणामों पर अधिक निर्भर करता है। जिसे यह मालूम हो जाय कि यह तो जीवों का ही कलेवर है और इसमें प्रति समय असंख्य जीव मर-जी रहे हैं, वह भला उसे कैसे खा सकेगा ? तीव्र राग के बिना और अत्यन्त निर्दय क्रूरता के बिना उस पदार्थ का खाना संभव ही नहीं है। ये अत्यन्त निर्दय परिणाम, क्रूरता और तीव्रराग ही वास्तविक पाप भाव हैं एवं बंध के कारण हैं। जीवों का मरना तो निमित्त मात्र है। जीव घात न भी हो तो भी इस क्रूरता के परिणामों से पाप-बन्ध तो होगा ही। वस्तुत: आत्मा में राग आदि विकारों की उत्पत्ति ही हिंसा है और इन रागादि विकारों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है।"

यद्यपि आलू आदि जमीकंद में रहने वाले जीव अपने आप ही मरते हैं, फिर भी आलू क्यों नहीं खाना चाहिए, इसका उत्तर यद्यपि एक सीनियर छात्र डॉक्टर परिवार को शास्त्र के आधार से दे चुका था, पर वहीं बैठे दूसरे छात्र को एक बहुत प्रबल युक्ति का स्मरण

हो आई । अतः उत्साहित होकर आगे आते हुए वह बोला – "इसका एक मनोरंजक किस्सा मैं आप को सुनाता हूँ । संभव है उससे आपके मन में रही सही शंका का भी समाधान हो जायेगा ।"

अपने कानों सुनी सत्य घटना सुनाते हुए उस छात्र ने कहा – "बात बम्बई की है, पर्यूषण पर्व का समय, बरसाती मौसम, कभी रिम-झिम वर्षा तो कभी मूसलाधार पानी की वर्षा, फिर भी मन्दिर में चल रहे प्रवचन में भारी भीड़ । जीने तक मे भी खड़े होने को जगह नहीं । बाहर से बहुत बड़े विद्वान जो बुलाये गये थे । प्रवचनों के आकर्षण से भीड़ दिन दूनी बढ़ती ही जा रही थी । गर्मी तो वैसे भी थी ही, पर भीड़ के कारण और अधिक महसूस हो रही थी । फिर भी जब तक प्रवचन पूरा न हो जाता, कोई हिलने का नाम नहीं लेता ।

एक दिन जब पण्डितजी यह समझा रहे थे कि आलू क्यों नहीं खाना चाहिए, तभी प्रवचन के बीच में ही एक नवयुवक खड़ा होकर बोला – "अभी आपने कहा था कि आलू मे निगोदिया जीव होते हैं और वे हर क्षण अपनी मौत मरते रहते हैं, तो फिर हमें शाकों के राजा आलू को न खाने का उपदेश क्यों दे रहे हो ? हमारी वजह से तो वे जीव मरे नहीं, क्योंकि वे तो हर पल अपनी ही मौत से मरते रहते है न ? "

पण्डितजी ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा "भैया ! कम से कम राजा को तो बचने दो । जरा विवेक से सोचो ! जो अपनी मौत मर रहे हो, क्या उन्हें भी कोई दयालु खा सकता है ? और क्या कहा शाकों का राजा ! अरे ! राजा को ही खा जाओगे तो फिर प्रजा का क्या होगा ? "

नवयुवक बोलो – "बात को मजाक में मत टालो, पण्डितजी ? मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये ।"

पण्डितजी ने अत्यन्त शान्त भाव से कहा – "देखो भाई ! यदि तुम्हें सही समाधान चाहिए तो पहले मैं जो कुछ पूछूं, तुम्हें उन बातों का सही-सही उत्तर देना होगा"

युवक ने उत्साह से कहा – "हाँ यह बात मंजूर है ? पूछो जो पूछना हो, पर शास्त्र की बात मत पूछना । वे मुझे नहीं आती ।"

पण्डितजी ने पूछा – "भाई तुम रहते कहाँ हो ?"

युवक का उत्तर था – "यहीं बम्बई सेन्टर में।"

"तुम्हारा मकान कितना बड़ा है ?"

"मकान की क्या पूछते हो ? पूरी हवेली ही हमारी है. चारों ओर बहु मंजिलें मकान हैं और बीच में काफी बड़ा चौक है।"

पण्डितजी ने मन ही मन सोचा "बात तो बन गई।" अतः पण्डितजी ने पुनः प्रश्न किया – "भाई ? क्या तुम बता सकते हो कि तुम्हारे मुहल्ले से मरघट और प्रसूति गृह कितने-कितने फासले से होंगे ?

युवक को इस प्रश्न का उत्तर ज्ञात नहीं था, अतः वह सोचने लगा – "मेरे प्रश्न का इन सब बातों से क्या प्रयोजन है ? ये पण्डिजी ऐसे ऊँट-पटांग प्रश्न क्यों कर रहे हैं ?"

मन में क्रोध भी बहुत आ रहा था पर क्रोध को पीता हुआ वह बोला – "मरघट तो करीब ३०-३५ किलोमीटर होगा और प्रसूति गृह भी २०-२५ किलोमीटर दूर तो होगा ही।"

पण्डितजी ने कहा – "तब तो आप के मुहल्ले वाले को मरघट तक मुर्दा ले जाने और प्रसव की पीड़ा से पीड़ित महिलाओं को प्रसूतिगृह तक ले जाने में बड़ा भारी कष्ट झेलना पडता होगा ? क्यों जी एक काम क्यों न करें ? तुम्हारी हवेली के चौक में तो मुहल्ले के मुर्दे दफनाने की व्यवस्था हो जावे और पहली मंजिल में प्रसूतिगृह बनवा देवें। क्यों ठीक है न ?"

"क्या बकते हो ! आपको शर्म नहीं आती ऐसा कहते हुए। मेरा मकान मरघट और प्रसूतिगृह ?" एकदम आग बबूला होकर युवक बोला।

पण्डितजी ने शान्त करते हुए कहा – "तुम चिन्ता क्यों करते हो ? तुम्हारी हवेली में तो मात्र वे ही मुर्दे दफनाये जायेंगे, जो अपनी मौत मरे होंगे। हत्या और आत्म हत्या से मरे मुर्दे नहीं। तथा उन्हीं महिलाओं का प्रजनन कराया जायेगा जो वैध होंगे, जायज होंगे। अवैध और नाजायज प्रसूतियाँ नहीं कराई जायगीं। तब तो ठीक है न ? और सुनो ! यह सब काम मुफ्त में नहीं होगा। तुम्हें इसके किराये का मुंह मांगा पैसा दिया जायेगा।"

युवक गरज कर बोला – "नहीं, यह हरगिज नहीं हो सकता। मेरा मकान और मुर्दा घर ? बंद करो यह बकवास।"

पण्डितजी ने उसकी आवाज को दबाते हुए उसी जोश से व्यंग-बाण छोड़ते हुए कहा – "तुम्हें मकान तो किसी कीमत पर भी मरघट और मुर्दाघर बनाना पसंद नहीं है और मुँह को मुफ्त में ही मरघट बनाना पसंद है और अपने मुँह को प्रसूतिघर भी खुशी-खुशी बना लेते हो ? तुम्हें शर्म नहीं आती । तुम्हारे मुँह में असंख्य जीव मरे – क्या तुम्हें यह पसंद है ? भले ही वे अपनी मौत ही मरते हैं, पर मरते तो मुँह में ही हैं न ?"

पण्डितजी का यह शंका-समाधान सुनकर न केवल युवक बल्कि वहाँ बैठे लगभग सभी गद्‌गद् थे और लगभग सभी का मन उसी दिन से आलू न खाने का संकल्प करने के लिए आतुर हो उठा था ।

× × ×

जब यह किस्सा उस छात्र द्वारा डॉक्टर दम्पति और राजू ने सुना तो उनका हृदय भी हिल गया था और उनके मुँह से यह निकल पड़ा "बात तो सच है, यदि जमीकंद कोई न खाये तो क्या बिगड़ने वाला है ? दुनिया में उनसे भी कहीं अधिक विटामिन और प्रोटीन दालों और अन्य शाक-भाजियों में हैं, जिनसे हमारे शारीरिक तत्वों की पूर्ति हो सकती है । अतः हमारे लिए भी यह बात विचारणीय तो है ही ? क्यों न हम भी इनका त्याग कर दें ?"

डॉ० धर्मचन्द ने छात्रों को सहयोग के लिए धन्यवाद देते हुए अंतिम प्रश्न पूछा – "यह कैसे मान लिया जाये कि सभी छात्र यहाँ के वातावरण और व्यवस्था से पूर्ण प्रसन्न और संतुष्ट है ।"

छात्र ने मुस्कुराते हुए कहा – "आपने भी खूब कहा, इस दुनिया में कभी/कोई/किसी को पूर्ण प्रसन्न और संतुष्ट रख सका है ? कोई कितना भी साधन संपन्न क्यों न हो, उससे क्या ? माता-पिता भी अपनी संतान को सदा संतुष्ट नहीं रख पाते, सो यह तो विद्यालय है, छात्रावास है ।"

छात्र ने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए अकबर-बीरबल का एक मनोरंजक किस्सा सुनाते हुए कहा – "बात बादशाह अकबर के जमाने की है । अकबर बादशाह के मुँह बोले वजीर बीरबल का बेटा बहुत देर से फूट-फूट कर रो रहा था और बीरबल उसे तरह-तरह से समझाने और मनाने की कोशिश कर रहे थे, पर वह चुप होने का नाम ही नहीं ले रहा था ।

इसी बीच अनायास बादशाह अकबर घूमते-घामते नगर का निरीक्षण करते हुए बीरबल के घर जा पहुँचे और बालक को रोता देख कर बोले – 'बीरबल ! बालक क्यों रो रहा है ? अकबर बादशाह के वजीर होकर तुम्हें किस बात की कमी हैं। वह जब जो माँगें तुरंत पेश कर दो, फिर रोने का क्या काम ?'

'महाराज ! बात तो आप बिल्कुल ठीक कहते हैं, पर.......'

'पर क्या ?' बादशाह ने बीच में ही बीरबल की बात काटते हुए कहा।

बीरबल ने सोचा – 'बादशाह की समझ में ऐसे नहीं आयेगा।'

अतः उसने एक क्षण सोचकर कहा – 'बादशाह ! आपका फरमाना तो वाजिब है, पर मनुष्य की इच्छायें बड़ी विचित्र होती हैं और फिर बालहठ, राजहठ और त्रियाहठ तो जगत प्रसिद्ध है ही। इन्हें समझाना इतना सरल नहीं है, जितना आप समझते है। यदि आपको यकीन नहीं हो तो आप स्वय प्रयोग करके देख लें। थोड़ी देर के लिए आप मेरे बाप बन जाइए और मैं आपका बेटा बनता हूं। आपके पास तो किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। आप मुझे न रोने के लिए या रोते हुए को चुप करने के लिए जो विधि अपनायेंगे, उसी विधि से मैं अपने बेटे को कभी रोने का अवसर नहीं दूंगा। यदि रोयेगा भी तो उसी विधि से चुप कर दिया करूंगा।'

बादशाह ने कहा – 'चलो ठीक है, यह बात हमें मंजूर है।'

बस, फिर क्या था, बीरबल बेटा बनकर बिना कुछ कहे जोर-जोर से रोने लगा।

बाप की हैसियत से बादशाह ने प्रेम से कहा – 'बेटा ! रोते क्यों हो ? बोलो तुम्हें क्या चाहिए ?'

बेटे के रूप में बीरबल ने कहा – 'ऊँ...ऊँ....ऊँ.... मुझे जोर से भूख लगी है अब्बाजान ? मैं दाल-भात खाऊँगा।"

देरी का क्या काम था, तुरंत दाल-भात पेश कर दिया गया। फिर भी बेटा चुप नही हुआ।

अब्बाजान ने कहा – 'अब क्यों रोते हो बेटा !"

बेटे ने रोते-रोते कहा – 'इसे मिलाकर खाऊँगा। नौकर द्वारा तुरंत दाल-भात मिला दिया गया। फिर भी बेटा चुप नहीं हुआ। नौकर के हाथ से दाल-भात मिलाता देख वह और जोर-जोर से रोने लगा।'

अब्बाजान ने पूछा – 'अब क्यों रोते हो बेटा ?'

बेटा ने कहा – 'नौकर ने क्यों मिलाया ? तुमने अपने हाथ से क्यों नहीं मिलाया ?'

अब्बाजान ने कहा – 'चलो ! कोई बात नहीं, चुप हो जाओ। दूसरा दाल-भात मंगाकर हम अपने हाथ से मिलाये देते हैं।'

बेटा बोला – 'मैं दूसरा दाल-भात नहीं खाऊँगा। आप तो इसे ही अलग-अलग करवा कर फिर अपने हाथ से मिलाकर खिलायें, मैं यही दाल-भात खाऊँगा और आप से ही मिलवाकर खाऊँगा।'

बस इतने में बादशाह की समझ में सब कुछ आ गया कि मनुष्य की इच्छायें असीम और विचित्र हैं, उन्हें पूरी करने की बात कहना जितना आसान है, उनका पूरा करना उतना आसान नहीं। अतः उन्होंने कहा – बीरबल तुम जीते और हम हारे।"

छात्र से यह किस्सा सुनकर डॉक्टर दंपत्ति खूब हंसे और बोले – "यह सब तो ठीक है। तुमने हमारा अच्छा खासा मनोरंजन तो कर दिया, पर इससे हमें कोई संतोषजनक समाधान नहीं मिला।"

इस किस्से से डॉक्टर की समझ में इतना तो आ गया था कि "संपूर्ण रूप से तो कोई/किसी को संतुष्ट नहीं रख सकता, फिर भी जो छात्र पूर्ण संतुष्टी की बात करते हैं, तो उनके कथन में अवश्य ही कहीं/कोई अतिशयोक्ति है, इस छात्र का यह कहना तो उचित ही है। पर यह कैसे पता लगे कि इन छात्रों को कोई खास कठिनाई और परेशानी नहीं होती ?"

डॉक्टर ने पुनः प्रश्न किया – "आप तो हमें यह बताइये कि आप लोग यह किस आधार पर कहते हैं कि अधिकांश छात्र तो संतुष्ट और प्रसन्न ही रहते हैं ? आपको छात्रों की मनःस्थिति का क्या पता ? वह असंतुष्ट रहते हुए भी तो किसी व्यक्ति विशेष के प्रभाव के कारण या अपनी व्यक्तिगत किसी कमजोरी के कारण चुप रह सकते हैं और औपचारिकता वश संतोष प्रगट भी कर सकते हैं।"

छात्र ने बहुत गंभीरता से सोच विचार कर उत्तर दिया—"इसका सबसे प्रबल प्रमाण तो यह है कि जिस ग्राम या नगर से पहली साल एक छात्र आ गया तो अगले साल उससे प्रेरणा पाकर और भी अनेक छात्र वहाँ से आये।

और तो ठीक, जितने छात्र यहाँ से पढ़ाई पूरी करके घर वापिस गये, उनमें से अधिकांश ने अपने छोटे भाई, भतीजे, भानजे या अन्य रिश्तेदारों और परिचितों को यहाँ पढ़ने की न केवल प्रेरणा दी, बल्कि भेजा भी।

आज तक यहाँ पढ़े छात्रों में शायद ही कोई ऐसा विद्यार्थी हो, जिसने अपने नजदीकी रिश्तेदार एवं भाई, भतीजों और भानजों में से किसी न किसी को प्रवेश दिलाने का प्रयास न किया हो।

६० छात्रों में १६ के भाई-भतीजे आदि रिश्तेदार तो यहाँ अब भी पढ़ रहे हैं। अब तक विगत दस वर्षों में कुल १२० छात्र यहाँ से विद्वान बनकर निकले, जिनमें ४० छात्र ऐसे थे, जो परस्पर या तो भाई-भाई थे या चाचा-भतीजे या फिर मामा भांजे थे। शेष छात्र भी परस्पर अड़ोसी-पड़ोसी, मित्र-मित्र या जान-पहचान वाले ही थे। जो एक-दूसरे की प्रेरणा पाकर ही यहाँ आये थे।

यदि वे यहाँ संतुष्ट न होते तो भला वे उन्हें यहाँ आने की सलाह और प्रेरणा क्यों देते ?"

इस उत्तर से डॉक्टर दंपत्ति पूर्ण संतुष्ट हो गये थे और उन्होंने राजू को यहाँ प्रवेश कराने का मानस बना लिया था। उनके इस निर्णय से राजू भी मन ही मन खूब प्रसन्न था। □

१६

"पुण्योदय से प्राप्त संयोगों की अनुकूलता में जो व्यक्ति जितना हर्षित होता है, प्रसन्न होता है; पापोदय जनित प्रतिकूलताओं में उसे उतना ही अधिक दुःख होता है, खेद होता है। वस्तुतः अनुकूल प्रतिकूल सयोगों में तत्वज्ञान के बल से समभाव रखना, साम्यभाव से तटस्थ रहना ही सुखी होने का सच्चा उपाय है।"

इस तथ्य से अनभिज्ञ सेठ सिद्धोमल ने यद्यपि अपने प्रिय पुत्र संजु से संबंध विच्छेद की घोषणा करके संपत्ति तो बचा ली थी, पर इससे उनकी विपत्तियों का अन्त नहीं हुआ था, विपत्तियाँ कम भी नहीं हुई थी, बल्कि विपत्तियाँ तो और अधिक बढ़ गई थीं; क्योंकि जिसे बारह वर्ष की कठिन साधना के बाद बड़ी दुर्लभता से पुत्र का मुँह देखने को मिला हो, उसका हर्षित होना तो स्वाभाविक था ही, पर जिसे उसी दुर्लभ प्रिय पुत्र का परिस्थितिवश सदा के लिए संबंध विच्छेद करना पड़ा हो, उसके दुःख का भी क्या ठिकाना?

सेठ सिद्धोमल के दुःख का कोई पार नहीं था; क्योंकि ऐसी दुर्लभता से प्राप्त इकलौते पुत्र से सदा के लिए संबंध विच्छेद करके उसे दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ देना कोई सहज बात नहीं थी। कितने अन्तर्बाह्य संघर्ष करने पड़े थे उन्हें? छाती पर पत्थर रखकर जिसने यह कार्यवाही की होगी, उसके दिल पर क्या बीती होगी? यह या तो भुक्तभोगी ही जान सकता है या फिर सर्वज्ञ भगवान।

'जिसके पांव फटी न बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई।'

संजू की माँ के तो आज तक आंसू ही नहीं थमे थे, पिताजी भी कम दुःखी नहीं थे। यद्यपि स्त्रियों की तरह उनके आंसू बाहर नहीं टपक रहे थे, पर वे भी आंसू पी-पी कर ही अपनी अशांति की आग बुझा रहे थे।

बिना कारण अपने शरीर का उपयोगी अंग कौन काटकर फेंकना चाहेगा? पर यदि कोई अंग सड़ गया हो और निरंतर मौत के मुँह में ले जा रहा हो, उस अंग के कट जाने से कितना भी दुःख क्यों न हो? उसे तो बिना मीन-मेख किए तुरंत कटवाना ही पड़ता

है। उसके सिवाय जीवित रहने का अन्य कोई उपाय भी तो शेष नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई करे तो करे भी क्या ? ठीक यही स्थिति सेठ सिद्धोमल की हो गई थी। उनका पुत्र संजू उन्हीं की बालमनोविज्ञान विषयक अनभिज्ञता के कारण ही तो विद्रोही हुआ था। इसका उन्हें भी बहुत अफसोस था, पर अब वे करें तो करें भी क्या ? उन्हें कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

× × ×

उनकी इस छोटी-सी नासमझी का इतना बड़ा दंड देने पर भी उनके भाग्यविधाता को अभी संतोष नहीं हुआ था। सो आये दिन पुलिस की परेशानियाँ अलग झेलनी पड़ रही थीं। पुलिस को तो मानों चुगने के लिए हरा-भरा चनों का खेत मिल गया था, जिसे मन चाहा चोंटें जाओ और चुगे जाओ। जब भी मन चाहे सेठ सिद्धोमल की छाती पर बैठकर मनमाना होरा भून-भून कर खाओ।

पुलिस के सिपाहियों को जब कहीं कोई काम नही दिखा या हाथ तंग हुआ तो आ धमके सेठ सिद्धोमल के यहाँ उनके बेटे की कुशल क्षेम पूछने। जब भी जेब खाली हुई नहीं कि सबसे पहले उन्हें सेठ सिद्धोमल ही याद आते। यदि सेठ ने आना-कानी की तो दूसरे ही दिन सच्ची-झूठी रिपोर्ट बनाकर संजू थाने में पिट रहे होते और इसकी खबर उन तक जल्द पहुँचा दी जाती, ताकि उसकी माँ सिर धुने और फिर उनकी तिजोरी खुले।

संजू को पुलिस के चक्कर से छुड़ाने के लिए अबतक वे लाखों रुपया लुटा चुके थे। उनकी इस पुत्रमोह की कमजोरी का पुलिस तो भरपूर लाभ उठा ही रही थी, समय-समय पर बिचौलिये भी संजू के सहयोग के नाम पर उनसे मुँह मांगा रुपया वसूला करते थे।

× × ×

संजू भी कौन-सा सुखी था। चारों ओर से उपेक्षित, माथे पर बदनामी का सेहरा बांधे, भूखा-प्यासा, यहाँ-वहाँ मारा-मारा फिरता। अपराधवृत्ति से ग्रसित, भयाक्रान्त, सशंकित और आतंकित होने से उसकी तो सूरत ही बदल गई थी। सारा शरीर काला पड़ गया था, कुपोषण का शिकार और दुर्व्यसनों की आदत पड़ जाने से बीमार भी रहने लगा था। उसका दुःख नगर निवासियों से भी नहीं देखा जाता था। अतः आये दिन लोग सेठ सिद्धोमल को समझाते थे।

"सेठजी ! क्या करोगे इस संपत्ति का ? साथ तो जायेगी नहीं। इस पुलिस को कब तक खिलाते-पिलाते रहोगे इस तरह ? अरे किसी तरह संजू से ही समझौता कर लो। फिर उस बेचारे का ऐसा दोष भी क्या था ? अब मुसीबत के तूफानी थपेड़ों में तो वघूले के पत्ते की तरह इधर-इधर गिरना-पड़ना उसकी नियति बन गयी है। अतः हमारी तो यही सलाह है कि गुस्सा थूको और संजू को गले से लगा लो।"

लोगों को क्या पता था कि सेठजी स्वयं भी संजू के लिए कितने तड़प रहे हैं, अतः उनका समझाना तो स्वाभाविक ही था, सेठजी को भी उन पर क्रोध नहीं आया, उन्होंने प्रेम से जवाब दिया – "हाँ ! भाई तुम ठीक कहते हो, मैं भी इसी प्रयत्न में हूँ कि उसकी वापसी का कोई रास्ता मिल जाये पर........।"

× × ×

सेठ सिद्धोमल को एक दिन बैठे-बैठे विचार आया कि विज्ञान भी तो कभी संजू का ही साथी था। उसके बारे में भी तो यही सब सुनने को मिला करता था जो आज संजू के बारे में सुनता रहता हूँ। वह कैसे सुधरा ? उसके जीवन में यह अनायास परिवर्तन कैसे आया ? इस बात का पता लगाना चाहिए। काश ! मेरा बेटा संजू भी सुधर जाये, यदि वह पुनः सन्मार्ग पर आ जाये तो मेरा शेष जीवन भी सुख से बीत जाये और वह भी दर-दर की ठोकरें खाने से बच जाये।"

उसके विद्रोही होने में एक अकेले उसी का दोष नहीं है, मैं भी एक कारण हूँ। भले ही मेरी भावना गलत नहीं थी, पर तरीका तो सही नहीं था, फिर वह तो बालक ही है, बालकों में समझ ही कितनी होती है, हरे बांस की तरह विधिपूर्वक जैसा चाहता मोड़ सकता था, पर मैंने तो यों ही मरोड़ दिया उस छोटे से पौधे को, मैं ही कहीं चूका हूँ। खैर ! जो हुआ सो तो हो ही गया। अब उस पर पश्चाताप करने से क्या लाभ ? अब तो आगे इस दिशा में क्या हो सकता है ? यही एकमात्र विचारणीय है।

× × ×

इधर विज्ञान भी सोच रहा था कि–"एक दिन संजू के पिता सेठ सिद्धोमल से मिलकर यदि उन्हें संजू की परिस्थिति का ज्ञान कराया

जाये तो संभवतः उनका हृदय पिघल सकता है और वे उसे अपना सकते हैं।

और संजू भी तो अब दुर्व्यसनों के भले-बुरे सब प्रकार के कटु अनुभव ले चुका है, अतः उसे पलटने में भी अब अधिक समय नहीं लगेगा। यदि उसे पिता की पुनः शरण मिलने की आशा दिलाई जाये और विद्या की भांति ही किसी योग्य लड़की से रिश्ते का आश्वासन देकर उसे सद्गृहस्थ का जीवन जीने की प्रेरणा दी जावे तो वह अवश्य ही आत्मसमर्पण कर देगा।

'जैसी होनहार होती है तदनुसार ही बौद्धिक विचार बनने लगते हैं, पुरुषार्थ भी वैसा ही होने लगता है, निमित्तादि सहायक कारण-कलाप भी स्वतः वैसे ही मिलते जाते हैं।'

तात्पर्य यह है कि जब जैसा कार्य होना होता है, तदनुसार सभी अंतरंग एवं बहिरंग कारण-कलाप स्वतः मिल जाते हैं।

संभव है संजू के और उसके माता-पिता के दुर्दिनों का अंत आ गया हो। मानों इसी वजह से मेरे मन में यह विचार इतनी उग्रता से उठ रहे हों, अतः प्रयत्न करने में कोई हानि नहीं है।"

× × ×

एक दिन विज्ञान बड़े उत्साहपूर्वक संजू की वापसी की पृष्ठभूमि की तैयारी के साथ सेठ सिद्धोमल के घर पहुँचा। उसे देखकर सिद्धोमल खुशी से उछल पड़े। 'अंधा क्या चाहे दो आँखें' सेठजी स्वयं भी विज्ञान से मिलना चाहते थे। वे उसके घर जाने का सोच ही रहे थे कि विज्ञान स्वयं ही उनके घर आ गया था।

विज्ञान को देखते ही सेठजी की तो केवल आँखें ही डबडबाईं, पर संजू की माँ तो जोरों से फूट-फूट कर रो पड़ी थी। विज्ञान उन दोनों के हृदय की वेदना बराबर समझ रहा था सो उन्हें आश्वस्त करते हुऐ उसने कहा – "आप दुःखी न हों, संजू को राह पर लाने का एक उपाय मुझे समझ में आया है, वही कहने मैं आपके पास आया हूँ।"

"कहो-कहो ! बेटा ! अवश्य कहो ! तुम जो कुछ......" – संजू के पिता ने कहा।

"मैं कुछ कहूँ इसके पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या आप चाहते हैं कि संजू घर लौट आये ?" – विज्ञान ने कहा।

सेठजी बोले – "बेटा ! ऐसे कौन माँ-बाप होंगे जो अपने बेटे का भला नहीं चाहेंगे । फिर हमारा तो अन्य दूसरा है ही कौन ? हम तो मौत के मुँह में ही बैठे हैं, हमारा क्या भरोसा ? रहें न रहें, यह अटूट संपत्ति कल कौन संभालेगा ? क्या करें हमारी तो किस्मत ही फूट गई है, बुढ़ापे में ये दिन भी देखने बाकी थे……… ।

भाई ! कोई उपाय हो तो जरूर करो, पर ……।"

"पर क्या ? सेठ साहब ! अब यदि आयेगा तब तो कुन्दन बनकर ही आयेगा, पर लौटकर आना आसान नहीं है; क्योंकि जिसे एक बार दुर्व्यसन और दुराचार की आदत पड़ जाती है, फिर उसे त्याग पाना सहज बात नहीं है । हाँ, एक उपाय मुझे सूझा अवश्य है पर………" विज्ञान ने कहा ।

"पर क्या ?" – सेठजी बोले ।

विज्ञान ने अपनी बात मनवाने के लहजे में कहा – "जैसा मैं कहूँ वह आप कर सकोगे ?"

"हाँ ! हाँ ! जो तुम कहोगे मैं सब करूँगा, कहो-कहो क्या कहते हो ?"

विज्ञान ने सेठजी के परिणामों को अच्छी तरह परख लिया था, सेठजी उसकी सब बातें मानने को तैयार थे ।

विज्ञान ने कहा – "मेरे दादाश्री ने मुझे बचपन में एक कहानी सुनाई थी, जो उस समय तो मेरे लिए केवल मनोरंजन का साधन मात्र बनकर रह गई थी, पर कल जब मैं बिल्कुल अकेला शांत बैठा था, तब अनायास वह कहानी तो मुझे याद आई ही, साथ ही उस कहानी में ही मुझे संजु को सुधारने का, उसे सन्मार्ग पर लाने का एक महा-मंत्र भी मिल गया । पहले मैं आपको वही कहानी सुनाना चाहता हूँ ।"

"सुनाओ ! सुनाओ !! जरूर सुनाओ बेटा !!!" – सेठजी ने कहा ।

विज्ञान ने उनमें कौतूहल उत्पन्न करते हुए कहा – "वह कहानी साधारण कहानी नहीं है, भला मेरे दादाश्री साधारण कहानी कहते ही क्यों ? उसमें पूरा तत्त्वज्ञान भरा है – मुझे यह बात उस दिन नहीं, आज समझ में आई है । वह कहानी और किसी की नहीं हमारी-तुम्हारी ही कहानी है, घर-घर की कहानी है ।"

सेठानी बीच में ही उत्साहित हो बोल उठी – "अरे बेटा ! सुनायेगा भी या यों ही पहेलियाँ बुझाता रहेगा।"

× × ×

विज्ञान ने कहानी कहना प्रारंभ किया – "एक सेठ था उसका नाम था धनदत्त। धनदत्त के केवल एक ही बेटा था जिसका नाम था श्रीकांत। श्रीकांत को बचपन से ही नृत्य-गान देखने-सुनने का बहुत शौक था। धनदत्त उसकी किसी भी इच्छा को दबाना नहीं चाहता था, उसकी हर इच्छा को पूरी करने की उसकी तमन्ना रहती थी। यदि वह आसमान के तारे तोड़कर लाने को कहता तो शायद सेठजी उन्हें लाने में भी पीछे नहीं रहते। वह तो भाग्य से उसने अब तक ऐसी कोई इच्छा जाहिर नहीं की थी।

नृत्य-संगीत देखते-सुनते श्रीकांत को उस नृत्यांगना से प्रेम हो गया और वह उस पर इतना मोहित हुआ कि अधिकांश समय वहीं रहने लगा। अब वह केवल रुपया-पैसा लेने के लिए ही घर पर आता था।

दुर्भाग्य से वह नृत्यांगना वैश्या की पुत्री थी, इसकारण श्रीकांत के माता-पिता बहुत दुःखी रहने लगे; क्योंकि न सेठजी उसे बहू के रूप में अपना सकते थे और न श्रीकांत उसे छोड़ ही सकता था तथा बेटे के प्रति उनका अति अनुराग और संपूर्ण समर्पण की भावना होने से वे उसका दिल भी नहीं तोड़ना चाहते थे; अतः उनके सामने यह समस्या थी कि वे उसे वहाँ जाने से रोके तो रोके कैसे ?

वह नृत्यांगना भी ऐसे लक्ष्मीपुत्र को आसानी से कैसे छोड़ दे। सेठजी नृत्यांगना से भी नहीं कह पाते, क्योंकि उन्हें भय था कि यदि हमने उस नृत्यांगना से कुछ भी कहा या अपने पुत्र से उसे अलग करने की कोशिश की तो वह दुःखी होगा – यह बात भी सेठ-सेठानी को इष्ट नहीं थी।

पर्यूषण में सुगंध दशमी के दिन सेठ धनदत्त और उनकी पत्नी धनदत्ता जिनमंदिर में दर्शन करने के लिए गये थे। वहाँ बाहर से पधारे हुए एक बहुत बड़े विद्वान का प्रवचन चल रहा था। पण्डितजी ने शास्त्र तो पढ़े ही थे, आत्मा भी पढ़ा था और लोकजीवन को भी

पढ़ा था अर्थात् वे शास्त्र मर्मज्ञ तो थे ही आत्मज्ञानी भी थे और लोक व्यवहार में भी निपुण थे ।

पण्डितजी समयसार परमागम की तीसरी गाथा पर प्रवचन कर रहे थे। उन्होंने कहा – एकत्व निश्चय को प्राप्त भगवान आत्मा ही लोक में सबसे सुन्दर है। जो एकबार उस शुद्धात्मा का दर्शन कर लेता है, उसे फिर संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लगता ।

कहा भी है – जब आतम अनुभव आवे, तब और कछु न सुहावे ।

जो एकबार दाख चख लेता है फिर उसे महुआ नहीं भाता । जिसे अमृत तुल्य मीठा पानी मिल जाय, फिर भला वह समुद्र का खारा पानी क्यों पियेगा ? जिनके घर देवांगना तुल्य गृहणियां हों, वे वेश्याओं के यहाँ जाकर अपना धन क्यों लुटायेंगे ?

पर अनादि काल से इन कामी भोगी जीवों ने अपनी विवेक की आँख से कभी भगवान आत्मा को देखा ही नहीं है, इसीकारण ये विषयों में फसे हैं । एकबार भी यदि यह भेदज्ञान की आँख से उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को देख लेता तो संसार के भोगों से स्वतः विरक्त हो जाता और कर्मबधन से मुक्त हुए बिना नहीं रहता ।

पण्डितजी बोले जा रहे थे, सेठ धनदत्त और सेठानी धनदत्ता एकाग्र मन से सुने जा रहे थे । वैसे तो सभी श्रोता मंत्रमुग्ध थे; पर सेठजी सबसे अधिक प्रसन्न दिखाई दे रहे थे । उनका तो आज मंदिर आना ही सार्थक हो गया था; क्योंकि उन्हें पुत्र को घर वापिस लाने का महामंत्र जो मिल गया था ।

वे खुशी-खुशी घर लौट रहे थे, रास्ते में सेठानी ने उनकी प्रसन्नता का कारण पूछा ।

सेठजी ने कहा – 'अरे महाभाग ! अपने से कितनी बड़ी भूल हुई है जो आज पाँच दिन हमने यो ही खो दिये । यदि पंचमी से ही पंडितजी के इन प्रवचनों को सुनते तो हम निहाल हो जाते ।

आज के प्रवचन में ही मुझे वह महामंत्र मिल गया है, जिससे श्रीकांत बिना किसी प्रताड़ना के सुधर जायगा और किसी का भी दिल दुःखाये बिना ही हमारा बेटा हमें मिल जायेगा ।'

'कहो भी तो वह महामंत्र क्या है ?' – धनदत्ता ने बड़ी आतुरता से पूछा ।

धनदत्त ने कहा – 'कुछ नहीं कल ही अपने बेटे के लिए एक सर्वसुन्दर कन्या की तलाश के लिए नाई और पंडितजी को बुलाकर नगर-नगर में उद्घोष करा दिया जाये। भले ही बेटे के तौल स्वर्णमुद्रायें भी क्यों न देना पड़े, पर सबसे सुन्दर कन्या के साथ बेटे की शादी करेंगे।'

'उससे क्या होगा स्वामिन ?' – धनदत्ता ने जिज्ञासा प्रगट की।

'अरे ! जब हमारा बेटा सर्वगुण सम्पन्न सुन्दरी को देखेगा तो उस बालक की भांति जो नया खिलौना देखते ही पुराना खिलौना फेंक देता है, वह स्वतः ही उस नृत्यांगना का परित्याग कर देगा' – धनदत्त ने खिलखिलाकर कहा।

उपाय तो उत्तम था, कारगर भी था, पर कहने में जितना सरल-सहज दिखता था, प्रयोग करने में उतना आसान नहीं था, फिर भी 'सही दिशा में किया गया प्रयत्न निष्फल नहीं जाता'। – इस विश्वास के साथ सेठजी ने श्रीकांत की शादी करने का निश्चय कर लिया और एक सर्वगुण संपन्न सर्वांग सुन्दर तथा गीत-संगीत और नृत्यकला में निपुण सुशील कन्या के साथ उसकी सगाई कर दी गई।

श्रीकांत सुशील और आज्ञाकारी तो था ही, अतः उसने पिता द्वारा की गई सगाई का विरोध नहीं किया; बल्कि उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

जब यह बात उस नृत्यांगना को ज्ञात हुई तो वह चिंतित हो उठी, उसे विचार आया कि श्रीकांत की शादी होने के बाद जब वह उस सुन्दरी को देखेगा तो स्वभावतः यहाँ आना छोड़ देगा। अतः उसने सोचा कि शादी तो अब टल नहीं सकती, अतः ऐसा कोई उपाय करना चाहिए जिससे वह उसका मुँह ही न देखे।

दूसरे दिन जब श्रीकांत नृत्य देखने को उस नृत्यांगना के नाट्य-गृह में पहुँचा तो वहाँ उसे अत्यन्त उदास मुद्रा में बैठा देखा। देखते ही उसने पूछा – 'आज ऐसी उदास क्यों हो ? क्या किसी ने कुछ कहा है ? अरे मेरे रहते तुमसे कोई कुछ नहीं कह सकता। जो आँख दिखायेगा उसकी आँख फोड़ दी जायेगी और जो अँगुली दिखायेगा उसकी अँगुली तोड़ दी जायेगी।'

नर्तकी ने कहा – 'स्वामी ! ऐसी तो कोई बात नहीं है, मेरी चिन्ता का विषय और कोई नहीं, आप ही हैं ।'

'मैं ! मैं कैसे ? मुझसे ऐसी क्या भूल हुई है ? – श्रीकांत ने कहा ।

नृत्यांगना ने दु:खी मन से कहा – 'श्रीकांत ! भूल आपसे नहीं आपके पिताजी से हुई है ।'

आश्चर्यचकित हो श्रीकांत ने पूछा – 'क्या कहा ? भूल और मेरे पिताजी से ! असंभव ।'

नृत्यांगना ने कहा – 'घबराओ नहीं, मैं जो कहती हूँ उसे ध्यान से सुनो । एक ज्योतिषी आया था, वह कहता था कि – श्रीकांत की शादी जिस कन्या से हो रही है, उस कन्या का मुख देखते ही श्रीकांत अंधा हो जायेगा । बस यही मेरी चिन्ता का विषय है ।'

श्रीकांत बोला – 'बस इतनी-सी बात है, ठीक है, मैं उसका मुंह ही नहीं देखूंगा फिर तो कोई भय नहीं है – अब तो ठीक है न ? अब तुम प्रसन्न हो जाओ और हमें प्रसन्न करने के लिए नृत्य प्रारंभ करो ।'

नर्तकी के तीर का निशाना सही जगह लगा, वह अपने लक्ष्य-बेध में सफल हुई, अतः वह प्रसन्न हो गई ।

× × ×

श्रीकांत ने अपनी आँखों पर अपने ही हाथों से पट्टी बांध ली थी । पट्टी बांधे-बांधे ही शादी हो गई, दुल्हन घर आई, एक माह बाद पीहर जाकर फिर वापिस घर आ गई, पर अभी भी श्रीकान्त की आंख से पट्टी नहीं उतरी । पत्नी को चिंता हुई, आखिर बात क्या है ? कुछ दाल में काला नजर आता है, वह भी कम बुद्धिमान नहीं थी, सुन्दरी तो थी ही, चतुर भी बहुत थी ।

उसने एक दिन पतिदेव से कहा – 'स्वामिन ! जब आंख पर पट्टी हो बंधी है तो आप दुकान पर क्यों जाते हैं, घर पर ही आराम कीजिए ?'

'नहीं-नहीं, दुकान जाना तो जरूरी है, आजकल एक तो वैसे ही घाटा ही घाटा हो रहा है और फिर घर बैठ गये तो ——' भोलेपन से श्रीकांत ने कहा ।

श्रीकांत की पत्नी ने सोचा – 'इस रहस्य का पता तो लगाना ही है, अतः क्यों न अपनी दासी को यथार्थ स्थिति का पता लगाने के लिए गुप्तचर के रूप में श्रीकांत के पीछे लगा दिया जाय ?'

दासी भी चतुर-चालाक थी। उसने शीघ्र ही सब यथार्थ स्थिति का पता लगा लिया।

श्रीकांत जितना स्नेह नर्तकी से करता था, अपनी पत्नी से भी उससे अधिक प्रेम करने लगा था; क्योंकि उसने भी अपने सद्व्यवहार से उसका मन मोह लिया था। उसका मुंह न देखना तो उसकी मजबूरी थी।

नर्तकी की भाँति एक दिन उसकी पत्नी ने भी श्रीकांत के घर आते ही उसने अपने हाव-भावों से उदासी प्रकट की।

श्रीकांत ने वही संवाद जो नर्तकी को उदास देखकर बोला था, पत्नी के सामने दुहराया – 'जिसने आँख दिखाई हो, उसकी आँख फोड़ दूंगा, जिसने उगंली दिखाई हो, उसकी उगंली तोड़ दूंगा।'

तब पत्नी ने भी वैसे ही लहजे में कहा – 'स्वामिन्! ऐसी तो कोई बात नहीं है। हाँ, एक ज्योतिषी आया था।'

'क्या कहता था वह' ——घबड़ाकर श्रीकांत बोला।

'और तो कुछ खास नहीं कहा, पर इतना अवश्य कहा कि जब तक तेरा पति तेरा मुंह नहीं देखगा, तबतक उसके व्यापार में घाटा ही घाटा होता रहेगा। बस यही एक मेरी उदासी का कारण है।'

श्रीकांत बोला – 'ये ज्योतिषी भी कमाल करते हैं!'

'इसमें कमाल की क्या बात है? जैसा उनके निमित्त ज्ञान में आया, बता दिया' – पत्नी ने कहा।

"पर सबका मत अलग-अलग क्यों? एक कहता है कि पत्नी का मुंह देखेगा तो अंधा हो जायेगा, दूसरा कहता है कि नहीं देखेगा तो दिवाला निकल जायेगा, अब तू ही बता क्या करूँ?'

'एक उपाय है' – पत्नी ने गंभीरता से कहा।

'वह क्या?' – श्रीकांत ने जिज्ञासा प्रगट की।

'खास तो कुछ नहीं, बस आप मुझे एक आँख से देख लो, दिवाला भी नहीं निकलेगा और दिखने को तो एक आँख से भी

उतना ही दिखता है जितना दोनों आँखों से, बल्कि निशाना लगाने में भी आसानी रहेगी' – हंसी रोकते हुए पत्नी ने कहा।

"क्या बात करती है, काना नहीं हो जाऊँगा ?'

'सोच लो दिवाला नहीं पिटाना हो, तो इतना तो करना ही पड़ेगा। ऐसे आँख पर पट्टी कबतक बांधे रहोगे ? और हाँ, यह तो विज्ञान का युग है न ! अतः अब तो आँखें पुनर्स्थापित करने की सुविधा भी उपलब्ध है।' – पत्नी ने कहा।

'हाँ ! यह ठीक है,' कहकर श्रीकांत ने डरते-डरते एक आँख खोली तो चाँदसा मुखड़ा देखता ही रह गया। उसने आँख फूटने की आशंका से आँख को बार-बार मिलमिलाकर देखा, पर हुआ यह कि चमड़े की आँख फूटने की बजाय हृदय की आँखें, विवेक की आँखें खुल गई और पत्नी की चतुराई से नर्तकी के त्रियाचरित्र का भेद जानकर श्रीकांत बहुत प्रसन्न हुआ।"

विज्ञान ने सेठ सिद्धोमल को यह कहानी सुनाते हुए कहा – "जिसतरह सेठ धनदत्त को पंडितजी के इस प्रवचन से दुहरा लाभ मिला था। सिद्धांत समझ में आ जाने से आत्मा का स्वरूप तो समझ में आया ही, साथ ही दृष्टान्त सुनकर उसने भी अपने पुत्र श्रीकांत की सगाई एक ऐसी सुन्दर कन्या से तय करली जो सर्वगुण सम्पन्न और सर्वांग सुन्दर थी। उस कन्या के सम्पर्क में आने पर उसके सब दुर्व्यसन और दुराचार की बुरी आदतें स्वतः छूट गई, क्योंकि अब उसे उस सुन्दरी के सिवाय और कुछ अच्छा लगता ही नहीं था। ठीक इसीतरह यदि तुम भी अपने पुत्र संजू की सगाई किसी सर्वांग सुन्दर कन्या से कर दो तो उसका ध्यान भी सब जगह से हटकर एक जगह टिक जायगा।"

सेठ सिद्धोमल यह कहानी सुनते ही बांसो उछल पड़े, मानों उन्हें निधि मिल गई हो। बस फिर क्या था, उन्होंने भी संजू की शादी सर्वश्रेष्ठ रूप-गुण सम्पन्न कन्या से करने का निश्चय कर लिया, ताकि वह भी तथाकथित दुराचार से मुक्त हो सके। उसके लिए उन्हें जो कुछ त्याग करना पड़े, वे करने को तैयार हो गये।

इधर विज्ञान ने संजू से सम्पर्क करके उसके पिताजी के विचारों में आये परिवर्तन की खुशखबरी सुनाकर उसे भी पुनः घर लौटने के लिए राजी कर लिया। □

(१७)

सेठ सिद्धोमल ने सोचा – 'ऐसा अखण्ड पुण्य तो बिरलों के ही होता है, जिसके फल में सब प्रकार की अनुकूलतायें एक साथ मिलती हैं। हम जैसे अधिकांश लोगों का तो दांत-चनों जैसा खेल ही होता है। जब दांत होते हैं तब चबाने को चने तक नसीब नहीं होते और जब पुण्य योग से सब कुछ भोग सामग्री उपलब्ध हो जाती है, तब तक आतें इतनी कमजोर हो जाती हैं कि मूंग की दाल का पानी भी नहीं पचता।

ठीक यही स्थिति संजू की शादी के सम्बन्ध में घटित होती दिखाई देती है। अपने बराबरी का रिस्ता, भरपूर दहेज और सर्वांग सुन्दर कन्या – मन चाहे सभी संयोग मिलना तो सम्भव हैं नहीं; क्योंकि जिनके पास देने को भरपूर दहेज, सर्वांग सुन्दर व सर्वगुण सम्पन्न कन्या तथा सभी प्रकार की सम्पन्नता होगी, वह संजू जैसे आवारा लड़के को अपनी लड़की क्यों देगा ? भले संजू में कोई खास खराबी नहीं है, पर मैंने उससे सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा करके अपने हाथ से ही अपने पैर पर पत्थर जो पटक लिया है। इस परिस्थिति में यदि सुन्दर बहू चाहिए तो किसी निर्धन व्यक्ति की लड़की ही लेनी पड़ेगी। दहेज मिलना तो दूर, यह भी हो सकता है कि लड़की के मां-बाप का आर्थिक सहयोग भी करना पड़े। अत: क्यों न अपनी ओर से ही दहेज न लेने की घोषणा करके उदार और आदर्शवादी होने का यशलाभ ही ले लिया जावे ? प्रतिष्ठा प्राप्त करने के इस स्वर्ण अवसर को यों ही खो देने में कोई समझदारी नहीं है।'

यह विचार करके सेठ सिद्धोमल ने समाज में अपनी मित्र मंडली और अपने सब मिलने-जुलने वालों से यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि – "देखो भाई ! हम दहेज लेन-देन के तो कट्टर विरोधी हैं। आप भी देखो न ! इस दहेज दानव के आतंकवाद से आये दिन कैसी-कैसी दु:खद दुर्घटनायें सुनने और पेपरों में पढ़ने में आती है।

बहू-बेटियों और उनके माता-पिता के साथ कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं। अतः हम तो अपने बेटे संजू की शादी में शकुन के रूप में केवल एक रुपया और श्रीफल ही स्वीकार करेंगे। चाहे कन्यापक्ष वाला कितना ही बड़ा आदमी क्यों न मिले ? वह हमें कितना भी दहेज देने का प्रलोभन क्यों न दे ? पर हमें कुछ नहीं चाहिए।

हम तो इस लेन-देन की परम्परा को ही जड़-मूल से उखाड़कर फेंक देना चाहते हैं, बिल्कुल ही खत्म कर देना चाहते हैं। ताकि 'न रहे बांस न बजे बाँसुरी' क्योंकि कोई कितना भी धन सम्पन्न क्यों न हो ? पर वह मुँहमांगा दहेज देकर भी वरपक्ष को संतुष्ट नहीं कर सकता। भला ईंधन अग्नि को कभी तृप्त कर सका है ? जिसतरह ईंधन पाकर अग्नि और अधिक भभक उठती है, इसी तरह आशा रूपी अग्नि धनादिक भोग सामग्री पाकर तृप्त होने के बजाय और अधिक भभकती है।

भाई ? हम तो इस पक्ष में भी नहीं हैं कि संजू की सुसराल किसी बड़े घर में ही हो। कन्यापक्ष की आर्थिक स्थिति साधारण भी हो तो भी हमें कोई परेशानी नहीं होगी। धन की हमारे पास भी क्या कमी है, जो हम धन के लिए दूसरों का मुँह देखें। पराया धन का आना तो उस बरसाती नदी-नालों में आए गंदे–मटमेले पानी की तरह होता है, जो इधर से आया उधर बह गया, न वह कभी किसी के पीने के काम आता है और न स्थाई रूप से टिकता ही है। प्यास बुझानेवाला पीने का शुद्ध पानी तो उन कुओं से ही उपलब्ध होता है, जिनमें जमीन के अन्दर जलस्रोतों से निरन्तर निर्मल जल आता रहता है।

अरे भाई ? हम तो उन लोगों में से हैं कि यदि जरूरत हुई तो कन्यापक्ष को भी मुँहमाँगा धन दे देंगे। पर कन्या सर्वगुण सम्पन्न और सर्वांग सुन्दर होनी चाहिए।'

इसप्रकार सेठ सिद्धोमल ने समाज में और अपनी मित्र-मण्डली में लम्बे-लम्बे वक्तव्य देकर आदर्शवादी बनने की कोशिश तो बहुत की, पर वे आदर्श व्यक्ति बन नहीं पाये। उनके इस प्रस्ताव को सुनकर एक क्रान्तिकारी समाज सुधारक से नहीं रहा गया। उसने सेठ सिद्धोमल को आड़े हाथों लेते हुए उन्हें अपने वचन बाण का निशाना बनाकर कहा – "मैं सेठ सिद्धोमल और उन जैसे सहस्रों

श्रीमन्तों से पूछना चाहता हूँ कि यदि आप लोग दहेज द्वारा मनचाहा धन लेकर वर-विक्रय नहीं करोगे तो मुँहमांगा धन देकर कन्याओं का क्रय करोगे, पर यह वणिक वृत्ति तुम करोगे अवश्य। विक्रय नहीं तो क्रय, क्रय नहीं तो विक्रय। तुम क्रय-विक्रय का धंधा किए बिना नहीं रह सकते। बनिये जो ठहरे। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि क्रय-विक्रय कुछ भी न करो ?

ध्यान रहे, कन्यापक्ष को दहेज देने के लिए किसी न किसी तरह बाध्य करना जितना बड़ा नैतिक व सामाजिक अपराध है, बे-मेल सम्बन्धों के लिए कन्या का क्रय करना भी उतना ही बड़ा अपराध है; क्योंकि कन्या के क्रय की प्रथा ने ही तो अनमेल रिश्तों को प्रोत्साहित किया था, परम्परा डाली थी। साठ-साठ वर्ष के वृद्ध श्रीमंत भी निर्धन व्यक्तियों को मुँह मांगा धन का प्रलोभन देकर पन्द्रह-सोलह वर्ष की कन्याओं से शादी कर लिया करते थे और स्वयं १०-५ वर्ष में ही राम को प्यारे होकर २५-३० वर्ष की भरी जवानी में ही उसे वैधव्य के दु:सह दु:ख भोगने को छोड़ जाते थे। बेचारी वे विधवायें जीवनभर हिरणी की भांति दीन-हीन बनी कामियों की कुदृष्टि से अपने को बचाती संकुचाती कुटुम्बियों से उपेक्षित रहकर जैसे-तैसे अपनी जिन्दगी के दिन पूरे करती थीं।

सौभाग्य से आज वह प्रथा तो नहीं है, पर उसके बदले वर-विक्रय का श्रीगणेश हो गया है। दोनों ही परिस्थितियों में कन्यायें ही अत्याचार की शिकार बनती रही हैं। विवेकशून्य समाज की कन्याओं की दुर्गति तो होनी ही थी, सो उन्हें कुए से निकाला तो बेचारीं खाई में जा गिरी।"

× × ×

दुनिया में सब तरह के लोग होते हैं, जिन्हें धन की ही सर्वाधिक महिमा है। वे धन के सिवाय अन्य गुण-दोष देखते ही नहीं है। जिस तरह मीठे पर मक्खियाँ और मांस पर गिद्ध मंडराने लगते हैं, उसी तरह सेठ सिद्धोमल के पास भी अनेक सुन्दर से सुन्दर कन्याओं के प्रस्ताव आने लगे।

जबतक धन का लालच और बड़े लोगों से चिपकने की आदत नहीं जायेगी, तबतक न वर-विक्रय रुकेगा और न कन्या-क्रय पर ही रोक लग पायेगी। कन्या-क्रय और वर-विक्रय ये दोनों ही बे-मेल सम्बन्धों को प्रोत्साहित करते हैं।

संयोग से संजू के लिए अनेक रिस्तों में एक ऐसी लड़की का रिस्ता भी आया, जिसके पिता संजू की वास्तविक योग्यता और उसकी वर्तमान परिस्थिति से परिचित थे एवं उसको वर्तमान स्थिति में पहुँचाने में केवल उसके पिता को ही उत्तरदायी मानते थे। वह कन्या भी संजू के व्यक्तित्व से सुपरिचित और प्रभावित थी। इधर संजू के लिए भी यह रिस्ता अपरिचित नहीं था। वह भी इस रिस्ते से प्रसन्न था। पर दोनों पक्षों में इतना वैचारिक मत भेद अवश्य था कि संजू के पिता अपनी घोषणानुसार केवल एक रुपया और नारियल के सिवाय कुछ नहीं लेना चाहते थे और कन्यापक्ष का यह आग्रह था कि वह अपनी हैसियत और परम्परानुसार स्वेच्छा से जो भी उपहार अपनी बेटी और होने वाले जमाई को देगा, वह वरपक्ष को स्वीकार करना ही होगा। तथा हमारे घर पर पधारे बरातियों का स्वागत-सम्मान करना और यादगार के रूप में या शादी की स्मृति स्वरूप दी गई छोटी-मोटी भेंट भी बरातियों को स्वीकार करनी ही होगी।

उसका कहना था कि 'परम्परागत प्रत्येक पुरानी बात बुरी ही होती हो, गलत ही हो, यह बात भी नहीं है और प्रत्येक नवीन बात सही ही हो, भली ही हो – यह भी कोई नियम नहीं है। वस्तुतः अति ही सर्वत्र बुरी होती है। इसीलिए किसी मनीषी ने ठीक ही कहा है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।'

उसने आगे कहा – शादी-विवाह के बहुत से रीति-रिवाज और परम्परायें बहुत अच्छे होते हैं, हमें उन्हें तोड़ना भी नहीं चाहिए। पर अविवेक के कारण आज दोनों पक्षों में हो रही अति से अनेक अच्छे रीति-रिवाज और परम्परायें भी बदनाम हो गई हैं। उनमें सबसे अधिक बदनामी दहेज को मिली है।

वस्तुतः दहेज का परम्परागत रिवाज बुरा नहीं था। बल्कि यह एक अच्छी परम्परा थी। यह कभी किसी बुद्धिमान व्यक्ति की सूझ-बूझ का सुखद परिणाम रहा होगा। पर आज तो इसका स्वरूप ही बदल गया है, विकृत हो गया है। यह पहले जितनी सुखद थी, आज उससे कहीं बहुत अधिक दुःखद बन गई है। उस दुःखद स्थिति के मूल कारणों को न देखकर कुछ लोग दहेज जैसी पवित्र परम्परा का ही विरोध करने लगे हैं। दहेज को ही कोसने लगे हैं। ऐसे लोग दहेज का सही स्वरूप, अर्थ व उसका मूल प्रयोजन नहीं जानते। दहेज कन्या के माता-पिता, भाई-भाभी, बंधु-बान्धव, कुटम्ब-परिवार और

रिस्तेदारों द्वारा अपनी-अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार प्रेमपूर्वक सहर्ष दिया गया वह उपहार है, जिसे प्रदानकर वे प्रसन्न होते हैं, कृतार्थ होते हैं। इसमें परस्पर प्रेम और सहयोग की भावना भी निहित होती है।

इस परम्परा को प्रचलित करने के पीछे एक पवित्र उद्देश्य यह भी रहा होगा कि जिन लड़के-लड़कियों को परिवार और समाज के लोग वर-वधू के रूप में गृहस्थ जीवन में प्रवेश कराते हैं, उनकी प्रारम्भिक या प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने का उत्तरदायित्व भी तो उनके परिवार व समाज का है। अतः सभी घर-कुटुम्ब के लोग, रिस्तेदार, पंच और समाज के सब लोग मिलकर अनेक नेग-दस्तूरों के रूप में कुछ न कुछ दैनिक आवश्यकता की वस्तुयें देकर एक नया घर बसाते हैं।

आपने देखा होगा दहेज में क्या-क्या दिया जाता है? रसोई के बर्तन, शयनकक्ष का सामान, बैठक का फर्नीचर, पहनने-ओढ़ने के वस्त्र, सामान्य गहने आदि। व्यवहार व आशीर्वाद के रूप में नगद रुपया भी अनेक लोग देते हैं, जिसमें पारस्परिक व्यवहार के रूप में शादी-विवाह के अवसर पर पर वापिस भी हो जाता है।

जिस तरह मेहमान को मेजवान अपनी परिस्थिति के अनुसार उत्तम से उत्तम भोजन बनाकर प्रेमपूर्वक मना-मनाकर परोसता है, पर मेहमान की इज्जत और प्रतिष्ठा इस बात में ही है कि वह कभी कुछ अपने मुंह से माँगता नहीं है। इसी में होती है दोनों पक्षों की शोभा। मेहमान सोचता है –

> रूखी अरु आधी भली, जो परसे मन लाय।
> परसत मन मैला करे, तो मैंदा जर जाय॥

ठीक यही स्थिति दहेज के संदर्भ में समझना चाहिए। अतः जो दहेज मांगेगा, मैं उसे तो अपनी कन्या दूंगा ही नहीं, पर जो मेरे द्वारा प्रेमपूर्वक दी गई भेंट को स्वीकार नहीं करेगा, उसे भी मैं अपनी कन्या देना पसंद नहीं करूंगा; क्योंकि बिल्कुल कुछ भी दहेज स्वीकार न करना भी कन्यापक्ष का अपमान है।

हमारी जो लेने-देन की विशुद्ध परम्परायें हैं, उनका निर्वाह तो होना ही चाहिए। **वस्तुतः देखा जाये तो दहेज कोई समस्या नहीं,**

समस्या है दहेज की मांग करना, दहेज का सौदा करना, दहेज देने के लिए कन्यापक्ष को येन-केन-प्रकारेण बाध्य करना।

दहेज देने-लेने का व्यवहार तो सदा से है और रहेगा। वह कोई अनुचित भी नहीं है। विरोध दहेज का नहीं, दहेज प्रथा का होना चाहिए। दहेज देने एवं लेने को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाना ठीक नहीं है।

कुछ लोग अधिक दहेज मिलने में अपनी इज्जत समझते हैं तो कुछ बिल्कुल भी दहेज न लेने में, स्वीकार न करने में अपनी इज्जत समझते हैं, पर वे दोनों ही प्रकार के लोग भूल में हैं, वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ हैं।'

× × ×

कन्या के पिता के ये आदर्श विचार सुनकर सेठ सिद्धोमल भी उनके विचारों से सहमत हो गये। दहेज के कारण और निवारण पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुए कन्या के पिता ने कहा— "आज शायद ही कोई लेखक, कवि, कहानीकार और वक्ता बचा हो, जिसने दहेज के विरोध में कभी न कभी अपनी कलम या जबान न चलाई हो; पर उनमें ऐसे बहुत कम होंगे जो उसकी तह तक पहुँचे हों। अधिकांश तो केवल वरपक्ष को कोसने में ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री मान लेते हैं।

पर क्या ऐसा वर्गीकरण सम्भव है कि अमुक-अमुक व्यक्ति वरपक्ष के हैं और अमुक कन्यापक्ष के? क्या वे सभी व्यक्ति, जिन्हें आप आज वरपक्ष का कह रहे हैं, कभी भी कन्यापक्ष के नहीं रहे होंगे या आगे कभी कन्यापक्ष के नहीं रहेंगे। अरे, जिनके घर में एक लड़का एवं एक लड़की है, दोनों शादीलायक हैं। आप ही बताओ! उन्हें हम किस पक्ष का मानें? क्या वह एक ही व्यक्ति दोनों पक्ष वाला नहीं है? और यह एक-दो घर की नहीं, घर-घर की कहानी है।

ऐसी स्थिति में यह वर्गीकरण कैसे सम्भव है? इस तरह वरपक्ष को गालियाँ देकर क्या हम स्वयं को ही नहीं कोस रहे हैं। पर हम ऐसा नहीं मान पाते। वरपक्ष का बनते ही पता नहीं हम में वह अकड़ कहाँ से आ जाती? वे क्षारतत्त्व कहाँ से पैदा हो जाते कि हम किसी को कुछ समझते ही नहीं हैं? उस समय हम भूल

जाते हैं कि यदि इनके स्थान पर हम और हमारे स्थान पर ये होते तो हम से यह सब संभव हो पाता, जिन असम्भव बातों की हम इनसे अपेक्षा रख रहे हैं ?

जो बातें आपको आज कन्यापक्ष का रोल करते समय बुरी लगती हैं, वही बातें कल वरपक्ष का बनते ही अच्छी क्यों लगने लगती हैं ? क्या इस दिशा में कभी सोचा है ?

यदि नहीं, तो यह भी एक विचारणीय बात है – इतना विवेक जागृत होते ही दहेज कोई समस्या नहीं रह जायेगी ।

फिर हमें वह सिद्धान्त याद आ ही जाना चाहिए कि "आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत; जो दूसरों की बात या व्यवहार हमें अच्छा न लगे, वैसी बात या व्यवहार हम दूसरों से न करें ।"

इसप्रकार संजू के होनेवाले श्वसुर साहब के विचारों से प्रसन्न होकर सेठ सिद्धोमल उनकी बात से सहमत हो गये और दोनों की राजी से संजू का विवाह एक आदर्श विवाह के रूप में अत्यन्त सादगी के साथ दिन में सम्पन्न हुआ, सहभोज में कोई भी अभक्ष्य वस्तु नहीं बनाई गई ।

कन्या के पिता ने अपने बेटी-जमाई को दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं में जो कुछ दिया सो तो दिया ही, एक गोदरेज की अलमारी भर के चारों अनुयोगों के शास्त्र भी उपहार में दिए तथा बारातियों को भी ५१) रुपये की पुस्तकों का एक सेट भेंट में दिया ।

इस आदर्श विवाह से वरपक्ष व कन्यापक्ष के सभी लोग तो प्रसन्न थे ही, समाज के गणमान्य व्यक्ति भी प्रसन्न थे । सभी इस विवाह की प्रशंसा कर रहे थे और कह रहे थे कि हम सबको भी इसी तरह के आदर्श विवाहों को प्रोत्साहित करना चाहिए ।

अभी हो रहे आदर्श विवाह जो निर्धनता के प्रतीक बनते जा रहे हैं, उनमें भी इसी तरह का सुधार अपेक्षित है, अन्यथा वह योजना लम्बे काल तक नहीं चल सकेगी । □

(१८)

"प्रशंसा और पुरस्कार एक ऐसी संजीवनी है, जो अनजाने ही अन्तरात्मा में नवीन चेतना का संचार कर देती है। यह एक ऐसा टॉनिक है, जिसके बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ही अवरुद्ध हो जाता है। वस्तुतः यह मानवमात्र की वह मानसिक खुराक है, जिसके बिना मानव में काम करने का उत्साह उत्पन्न ही नहीं होता। जिस तरह शरीर संतुलित भोजन के अभाव में रोगी हो जाता है, कमजोर हो जाता है; उसीतरह संतुलित प्रोत्साहन व प्रशंसा की कमी के कारण मानव की कार्यक्षमता कम हो जाती है।

प्रशंसा व प्रोत्साहन एक ऐसी रामबाण अचूक औषधि है, जो हताश, हतोत्साहित व निरुत्साहित मानवों के मनों में आशा, उमंग व उत्साह भर देती है। प्रशंसा की खुराक देकर आप एक भूखे-प्यासे व्यक्ति से भी मनचाहा कठिन से कठिन और छोटे से छोटा काम करा सकते हैं।

आये दिन होनेवाले स्वागत समारोह, अभिनन्दन-पत्रों और प्रशंसा-पत्रों का समर्पण एवं उपाधियों व पुरस्कारों का वितरण तथा आभार प्रदर्शनों के आयोजन निरर्थक नहीं हैं, इन सबके पीछे यही मनोवैज्ञानिक तथ्य काम करता है।"

इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही आचार्यश्री ने उस दिन अपने प्रवचन में विज्ञान के स्वाध्याय की प्रशंसा की थी, जिसे सुनकर वह मन ही मन भारी प्रसन्न था। अब उसका उत्साह द्विगुणित हो गया था। फलस्वरूप उसने अपने स्वाध्याय को तो नियमित और व्यवस्थित किया ही, साथ ही तत्त्वप्रचार की नई-नई योजनाएँ बनाने में भी वह सक्रिय हो गया।

आचार्यश्री द्वारा प्रशंसा रूपी जल के सींचने से उसकी मानस वाटिका पल्लवित पुष्पित हो हरी-भरी होने लगी थी ।

× × ×

दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो प्रशंसा पाने और यश खाने की आदत एक बड़ी भारी मानवीय दुर्बलता भी है, जिसका चतुर चालाक व पाक्पटु व्यक्ति दुरुपयोग भी कर लेते हैं । स्वार्थी लोग इस मानवीय कमजोरी को पहचान कर झूठ-मूठ प्रशंसा करके अपने स्वार्थ सिद्ध करने के प्रयास भी करते हैं ।

यह एक ऐसी विश्वव्यापी बीमारी भी है, जो औरों की तो बात ही क्या, किन्हीं-किन्हीं बड़े-बड़े साधु-सन्तों तक में भी देखी जा सकती है और इससे बचना असम्भव नहीं तो कठिन तो है ही । अतः यश की भूख और प्रशंसा की प्यास बुझाते समय प्रशंसक के हृदय की पवित्रता की पहचान और तदनुसार अपनी योग्यता का आत्म-निरीक्षण तो कर ही लेना चाहिए ।

सज्जन बुद्धिमान व्यक्ति वह है, जो इसका उपयोग व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए एक चतुर वैद्य की तरह इसप्रकार करता है कि किसको/कब/कितनी मात्रा में प्रशंसा की खुराक दी जाय ? जो उसके सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो सके ।

इस सम्बन्ध में अक्सर होता यह है कि व्यक्ति इसके मूल उद्देश्य को दृष्टि से ओझल करके या तो अपने-पराये के संकुचित दृष्टिकोण के कारण 'अन्धा बांटे रेवड़ी, चीन-चीन कर देय' वाली कहावत चरितार्थ करने लगता है । अथवा स्वयं कुछ सोचे-समझे बिना, देखा-देखी 'भेडचाल' चल देता है ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर के विदेशों में हुए सम्मान से प्रभावित हो जब भारतीय विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टरेट' की उपाधि से सम्मानित करने का आमन्त्रण दिया तो उन्होंने 'टू मच लेट' कहकर उनके सम्मान को अस्वीकार कर दिया था ।

ऐसा करके उन्होंने कोई नाराजी प्रगट नहीं की थी, बल्कि वे उन्हें यह सिखाना चाहते थे कि **'भरे पेट में अमृत पान कराने के बजाय भूखे पेट को समय पर दो रोटियां देना बेहतर है ।'**

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर आचार्यश्री ने विज्ञान को यथा समय प्रोत्साहित किया था। प्रोत्साहन पाकर विज्ञान ने एक दिन साहस बटोरते हुए शंका-समाधान के समय णमोकार मंत्र की कथाओं से सम्बन्धित चर्चा को पुनः उठाते हुए निवेदन किया कि "महाराज ! णमोकार महामंत्र सम्बन्धी पुराणों में आयी कथाओं के संदर्भ में मेरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि 'दृढ़सूर्य' चोर ने दुस्सह दुःख भोगते हुए जल की आशा से णमोकार मंत्र का उच्चारण किया, तब भी वह उस मंत्र के प्रभाव से देवपर्याय को प्राप्त हुआ, सो ऐसा कैसे संभव है ? क्या सक्लेश भावों के साथ तथा लौकिक कामना से किये गये णमोकार मंत्र के उच्चारण का फल स्वर्ग की प्राप्ति हो सकता है ?"

आचार्यश्री विज्ञान के तार्किक चिन्तन और गहन अध्ययन की पुनः प्रशंसा करते हुए बोले – "स्वाध्याय तो कहते ही उसे हैं, जिसमें विचार मंथन हो। जिसतरह दही को विधिवत बिलोए बिना मक्खन हाथ नहीं आता, उसीप्रकार वस्तुस्वरूप का स्याद्वाद शैली से विधिवत मन्थन किए बिना तत्त्व हाथ नहीं आता।"

यद्यपि शंका-समाधान का समय समाप्त हो चुका था, फिर भी उपर्युक्त शंका का समाधान सुनने को सभी श्रोता उत्सुक थे, परन्तु समयाभाव के कारण उस दिन समाधान करना सम्भव नहीं था।

'श्रोता भी यही सोच रहे थे कि महाराज के समय पाबन्द है, अतः अब कल तक तो प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।' उधर उस रात आचार्यश्री के चिन्तन का विषय भी केवल विज्ञान की तत्त्वचर्चा ही बनी रही। उसके आगम पर आधारित एवं युक्तिसंगत प्रश्नों ने महाराजश्री को समाधान करने के लिए विवश तो किया ही, उसकी पैनी पकड़ ने उन्हें प्रभावित भी किया। इसकारण उनका अगले दिन का प्रवचन भी विज्ञान द्वारा प्रस्तुत की गई शंकाओं के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा।

दृढ़सूर्य चोर की कथा से सम्बन्धित विज्ञान की शंका का विश्लेषण करते हुए आचार्यश्री ने कहा – "यह कोई नियम तो है नहीं कि जिन-जिन को बाह्य में दारुण दुःख होता दिखाई दे, उन

सबके परिणाम भी संक्लेश रूप ही हों , विशुद्ध भी तो हो सकते हैं। सम्यग्दृष्टि नारकी जीवों को ही देखो न ? नरकों में बाह्य संयोगों की कैसी प्रतिकूलता है ? निरन्तर अनन्त दुःख, एक क्षण को भी चैन नहीं, फिर भी सम्यग्दृष्टि जीव समता रस का ही पान किया करते हैं।

इस सम्बन्ध में कविवर दौलतरामजी की वे पंक्तियाँ स्मरणीय हैं, जिनमें उन्होंने सम्यग्दृष्टि की प्रतिकूल परिस्थितियों में समताभाव से रहने का चित्रण किया है। वे कहते हैं –

चिन्मूरत दृग धारी की मोहि, रीति लगत कछु अटापटी।
बाहर नारकिकृत दुःख भोगे, अन्तर समरस गटागटी ।।

इसप्रकार दारुण दुःख में भी विशुद्धपरिणाम रह सकते हैं। इसका दूसरा ज्वलन्त प्रमाण हमारे सामने पाँच पाण्डवों का है। यदि बाहर के दारुण दुःख देखकर उनके अन्तरंग परिणामों को संक्लेशरूप में ठहराया जायगा, तब तो फिर उनमें से तीन को मोक्ष प्राप्त होना और दो का सर्वार्थसिद्धि में जाने की बात ही विवाद में पड़ जायेगी, जो निर्विवाद रूप से सर्वज्ञ देव द्वारा कथित एवं आगम सिद्ध तथ्य है।

तथा देवपर्याय की प्राप्ति भी बिना विशुद्ध परिणामों के सम्भव नहीं है, अतः दृढ़सूर्य चोर के परिणाम णमोकार मंत्र का निमित्त पाकर अपनी तत्समय की योग्यता से नियम से विशुद्ध हुए थे। अन्यथा उसे देवगति में जाना कैसे संभव है ?

उक्त कथा में भी इतना ही तो लिखा है कि दुस्सह दुःख भोगते हुए भी उसने णमोकार मंत्र के पढ़ने से देवगति प्राप्त की। यह कहाँ लिखा कि संक्लेश परिणाम करते हुए भी स्वर्ग गया ? ”

अपने प्रवचन के विषय को आगे बढ़ाते हुए मुनिश्री ने विज्ञान को ही लक्ष्य करके कहा – “विज्ञान ! तुम्हारी दूसरी शंका यह है कि पानी पीने की कामना से णमोकार मंत्र का जाप करनेवाले को स्वर्गकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

यह शंका भी अपनी जगह बिल्कुल सही है, पानी ही क्या ? किसी भी लौकिक कामना से की गई पंचपरमेष्ठी की उपासना तीव्रकषाय होने से पापभावरूप ही है। फिर भी दृढ़सूर्य चोर को जो स्वर्ग की प्राप्ति होने का उल्लेख पुराणों में है, तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि णमोकार मंत्र के उच्चारण करने से उसका ध्यान प्यास जनित पीड़ा या दारुण दुःख से हटकर पंचपरमेष्ठी के स्वरूप पर चला गया हो और भली होनहार के कारण उसे अपने चौरकृत्य पर पश्चाताप के साथ णमोकार मंत्र की आराधना रूप विशुद्ध परिणाम हो गये हों, जिनका फल स्वर्ग ही है।

देखनेवालों ने तो यही देखा है कि प्यास से तड़प रहा है, ओंठ सूख रहे हैं, ओंठों पर जीभ फेर रहा है, साथ ही णमोकार मंत्र पढ़ रहा है, यह दृश्य देखकर तो यही कहा जायगा या अनुमान लगाया जायगा कि उसने जरूर पानी के लिए ही णमोकार मंत्र पढ़ा होगा।

कविवर बनारसीदास के साथ भी तो ऐसा ही घटित हुआ था। जब मरणतुल्य वेदना के बाद भी उनके प्राण नहीं निकले तो लोगों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि 'पता नहीं बेचारे के प्राण कहाँ मोह-ममता में अटक रहे हैं ? किन्तु जब लोगों की यह चर्चा उनके कान में पड़ी तो उन्हें यह लिखकर बताना पड़ा कि 'अरे भाई ! ऐसी बात नहीं है। मैंने तो ज्ञानरूपी फरसे से अपने मोह-राग-द्वेष आदि सभी कर्म-शत्रुओं को मार दिया है। अब मैं इस संसार से सदा के लिए जा रहा हूँ, मुझे अब यहाँ पुनः लौटकर नहीं आना है।

देखिए उन्हीं के शब्दों में – अर्द्धकथानक में वे लिखते हैं –

> 'ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
> प्रगट्यो रूप स्वरूप, अनंत सु सोहना ।।
> जा परजै को अंत, सत्य कर मानना।
> चले बनारसिदास फेर नहीं आवना ।।'

अतः दृढ़सूर्य का बाहरी दारुण दुःख देखकर यह शंका करना उचित नहीं है कि उसने पानी की कामना से ही णमोकार मंत्र जपा था, फिर भी स्वर्ग की प्राप्ति हो गई। यदि पानी की कामना से मंत्र का जाप किया होता तो नियम से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती।

तुम्हारी मान्यतानुसार अर्थ करने से अनर्थ यह होगा कि लोग लौकिक कामना से ही धर्मकार्य करने लगेंगे; तब फिर तो निष्कामभक्ति की भावनायें समाप्त ही हो जावेंगी ।

यदि कदाचित् कहीं ऐसा स्पष्ट लिखा भी मिल जाय तो प्रयोजन एवं प्रसंग को दृष्टि में रखकर नयार्थ व मतार्थ से ही उसका समाधान करना होगा ।"

इसप्रकार मुनिश्री ने विज्ञान की शंकाओं का जो समाधान किया, उससे विज्ञान तो संतुष्ट हो ही गया, अन्य श्रोता भी गद्-गद् हो गये । सभी मुनिश्री की जय बोलते हुए अपने-अपने घर चले गये । □

अपनी ओर देख ! एक बार इसी जिज्ञासा से अपनी ओर देख !! जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है, अपना आत्मा ही है । यह आत्मा शब्दों में नहीं समझाया जा सकता, इसे वाणी से नहीं बताया जा सकता । यह शब्दजाल और वाक्विलास से परे है । यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है । यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है । अतः समस्त परपदार्थों, उनके भावों एवं अपनी आत्मा में उठनेवाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर में झांक ! अन्तर में देख, अन्तर में ही देख ! देख !! देख !!!

— तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७६

१९

क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर, सम्पूर्ण जैन समाज एकमत से णमोकार महामंत्र को अपना आदर्श मंत्र मानती है और सभी मंत्रों में इसको सर्वश्रेष्ठ महामंत्र निरूपित करती है; क्योंकि इस महामंत्र में उन अरहंत सिद्ध आदि वीतरागी पंचपरमेष्ठी को नमन किया गया है, जो सबको समान रूप से मान्य एवं सभी के परम पूज्य और आराध्य हैं।

क्या गृहस्थ और क्या साधु-मुनि, सभी इन्हें निर्विवाद रूप से एक जैसा ही मानते-पूजते हैं।

इस कारण सभी सम्प्रदायों में इस महामंत्र की महिमावाचक अनेक पौराणिक कथायें, उपकथायें तो थीं हीं साथ ही समय-समय पर घटित घटनाओं के आधार पर लोक प्रचलित किंवदन्तियां एवं भट्टारक युगीन कल्पित कथाओं की भी भरमार रही।

यहां तक तो कोई बात नहीं थी; पर कहीं-कहीं या तो साहित्यिक दृष्टि से अतिशयोक्ति, अन्योक्ति आदि अलंकारों के प्रयोगों से या फिर अनुयोग पद्धति के प्रयोजन वश अथवा किंवदन्तियों से प्रभावित होकर इन कथाओं में बढ़ा-चढ़ा कर भी बहुत कथन किए गए हैं। जिनके सही अभिप्राय और यथार्थ स्थिति को न समझ पाने से उनके सम्बन्ध में लोगों को भ्रान्तियां भी बहुत हुई हैं।

आचार्यश्री आज भी रात भर इन्हीं सब बातों पर विचार मंथन करते रहे, क्योंकि दो दिन से प्रवचनों के उपरांत पूछे जाने वाले प्रश्नों में इसी से सम्बन्धित प्रश्न अधिक आ रहे थे। आचार्यश्री ने आगम के आलोक में काफी मंथन किया था। अतः उन्होंने सोचा – "क्यों न आज अनुयोग पद्धति को ही समझा दिया जाय ?"

यह सोचकर प्रवचन प्रारम्भ करते हुए उन्होंने कहा – "देखो, सम्पूर्ण जिनागम को चार शैलियों में प्रतिपादित किया गया है, जिन्हें चार अनुयोग कहा जाता है। वे हैं द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोग। सम्पूर्ण पौराणिक कथानक प्रथमानुयोग की शैली में लिखे गये हैं। प्रथमानुयोग में कभी-कभी प्रयोजनवश चांटे का काम कांटे से भी निकाला जाता है।"मुनिराजश्री अपनी बात स्पष्ट कर ही रहे थे कि विज्ञान बीच में ही बोल पड़ा – "महाराज ! चांटे का काम कांटे से कैसे निकल सकता है ? चांटा-चांटा है और कांटा-कांटा है।"

"देखो, विज्ञान। प्रवचन के बीच में बोलना ठीक नहीं है। क्या तुम पहली बार ही प्रवचन में आये हो। प्रवचन के बीच में बोलने से प्रवचन की धारा टूट जाती है, अस्तु – हाँ सुनो – मैं चांटे-कांटे की कहानी कह रहा था।

एक बालक था, वह चंचल तो था ही, नासमझ भी था, जब देखो तभी अपनी बड़ी बहिन सरला से लड़ता-झगड़ता रहता, कभी-कभी तो मार-पीट भी देता। माँ बहुत परेशान रहती थी। अतः उसे कभी-कभी गुस्सा तो इतना आता कि उसका वश चले तो चांटों से उसकी अच्छी मरम्मत कर दे, पर माँ तो आखिर माँ ही होती है। कुछ ही देर में उसका गुस्सा ठंडा हो जाता। और बात आई-गई हो जाती।

एक दिन माँ-बेटे दोनों बाजार जा रहे थे, बेटा नंगे पैर था, माँ करे तो करे भी क्या ? रोज-रोज कितने जूते-चप्पल पहिनाये। रास्ते में अनायास लग गया एक कांटा। बेटा वहीं बैठकर रोने लगा। उसे रोते देख माँ को विचार आया। आज अच्छा मौका है। जब कांटा लग ही गया तो चांटों का काम कांटे से ही क्यों न ले लिया जाए।

बेटे ने रोते-रोते माँ से पूछा माँ मुझे कांटा क्यों लगा ?

माँ बोली – "बेटा तू अपनी बड़ी बहिन को गाली देता है न, मारता-पीटता भी है। बस, इसी कारण तुझको कांटा लगा है।

बेटा बोला – अच्छा माँ मैं आज से कभी गाली नहीं दूंगा, फिर तो कांटा नहीं लगेगा ?

माँ बोली – बेटा कांटा तुम जैसा पागल थोड़े ही है, जो बिना बात किसी को परेशान करे।

उस दिन से बालक ने अपनी बड़ी बहिन को ही क्या सभी को मारना-पीटना और गाली-गलौज करना छोड़ दिया।

यद्यपि कांटे से गाली-गलौच और मारपीट का कोई संबंध नहीं, तथापि यदि कांटे के लग जाने मात्र से बुरी आदत छुड़ाने को चांटे नहीं का मारना पड़े, चांटों का काम उस कांटे ने ही निबटा दिया, जो कि अचानक उसे लग गया था। सही अभिप्राय होने से ऐसा करना जिस तरह लोक में अनुचित नहीं माना जाता, उसी तरह मोक्षमार्ग में भी ऐसा कथन करने की एक शैली है, जिसका नाम प्रथमानुयोग है। इस अनुयोग का मूल प्रयोजन पापी व अज्ञानी जीवों को पापाचरण से हटाने और मोक्षमार्ग में लगाने का है। एतदर्थ कभी-कभी किसी एक के फल को किसी अन्य का भी कह दिया जाता है।

प्रथमानुयोग में केवल प्रयोजन की मुख्यता से कथन होता है। इस प्रकरण में केवल इतना प्रयोजन है कि जो लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए अन्य मत-मतान्तरों द्वारा पीर-पैगम्बर या रागी-द्वेषी व अल्पज्ञ देवी-देवताओं की शरण में चले जाते हैं। वे वहाँ जाकर गृहीत मिथ्यात्व में न पड़ें, णमोकार मंत्र द्वारा पंचपरमेष्ठी का स्वरूप पहचान कर वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा व उन्हीं के मार्गानुयायी साधुओं की शरण में आएँ, ताकि वे गृहीत मिथ्यात्व के महापाप से बच सकें और सच्ची बात समझने के निमित्तों से दूर न हो जावें।"

आज विज्ञान फूला नहीं समा रहा था, यह प्रश्न उसके मन को बहुत समय से कचोट रहा था, उसका तर्कयुक्ति व आगम के आधार पर जो समाधान मिला, उससे वह पूर्ण प्रसन्न और संतुष्ट था। दूसरे दिन प्रवचन से पूर्व ही अनुमति लेकर विज्ञान ने प्रसन्नता प्रगट करते हुए एक प्रश्न और किया – "महाराज! आगम में आये परस्पर विरोधी कथनों का सामंजस्य किस प्रकार संभव है ?"

इस तथ्य को समझाते हुए आचार्य श्री ने कहा कि भाई! ऊपर से परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले कथन भी वस्तुतः परस्पर विरोधी नहीं हैं, क्योंकि दोनों कथनों के प्रयोजन बिल्कुल पृथक-पृथक होते हैं।

कथाओं के माध्यम से कथाकार अज्ञानी जीवों को सन्मार्ग या मोक्षमार्ग में लगाना चाहता है, अत: स्वर्गादिक की प्राप्ति में अनेक कारणों के होते हुए भी मोक्षमार्ग के नेता पंचपरमेष्ठी में श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिए पंचपरमेष्ठी के वाचक णमोकार मंत्र को सुनने रूप निमित्त पर ही जोर देता है। अन्य कारणों को गौण कर देता है।

कथाकार सोचता है कि "यदि इस कथा को पढ़कर पाठक को अरहंतदेव एवं आचार्य उपाध्याय व साधु परमेष्ठी पर श्रद्धा हो गई तो फिर वह उनकी आराधना भी करने लगेगा, उनकी वाणी भी सुनने लगेगा, ऐसा करने से उसे स्वत: सन्मार्ग मिल जायेगा। इसी प्रयोजन से वहाँ यह कहा गया है कि णमोकार मंत्र के श्रवणमात्र से ही उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई है। अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। कथाकार का अभिप्राय सही होने से कथा में आये सभी कथन सत्य ही कहे जाते हैं, माने जाते हैं।

पंचपरमेष्ठी रूप सद्निमित्तों से दूर रहने वाले संसारी जीव ऐसा कहे बिना उन सद्निमित्तों के पास ही नहीं आते। इसी कारण णमोकार मंत्र से सम्बन्धित कथाओं में णमोकार मंत्र के स्मरणादि को ही सारा श्रेय दिया गया है। तथा अन्य सभी अंतरंग कारणों को गौण रखा गया है। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि अन्य सभी अंतरंग कारण बाहर से प्रगट दिखाई भी नहीं देते, अत: उन्हें श्रेय देना संभव भी नहीं है।

पांडवपुराण, पद्मपुराण एवं पार्श्वपुराण आदि में भी जो यह कहा गया है कि परमेष्ठी पद में विराजमान आत्माओं को भी संकट का सामना करना पड़ा, उसका यही प्रयोजन है कि यदि कोई निकट भव्य जीव अपनी अज्ञानमय पूर्वपर्याय में पापाचरण या पापभाव करता है तो उसे उसका फल भोगना ही पड़ता है। चाहे बाद में वह कितना ही बड़ा धर्मात्मा क्यों न हो जावे ? अत: जिसे संकटों में पड़ना मंजूर न हो उसे पापाचरण से बचना ही चाहिए।

दोनों ही तरह के कथानकों का उद्देश्य और अभिप्राय सही होने से कोई भी कथन आगमविरुद्ध व परस्पर विरोधी नहीं है।

यदि वस्तुतः कारण-कार्य की मीमांसा की जाय तब तो प्रत्येक कार्य के सम्पन्न होने में अनेक कारण विद्यमान रहते हैं, किन्तु श्रेय केवल बाह्य निमित्त कारण को ही दिया जाता है, क्योंकि निमित्त-रूप से भी किसी के द्वारा किये गये उपकार को सज्जन भूलते नहीं हैं।

देखो, उन बंदर, बकरा, हथिनी आदि जीवों को जो स्वर्गादि की प्राप्ति हुई, उसमें णमोकार मंत्र का सुनना तो मात्र निमित्त कारण था। साथ में उन जीवों की होनहार भी वैसी ही थी तथा उनके परिणामों की विशुद्धि (कषाय की मंदता) भी ऐसी हो गई थी कि उन परिणामों से देवगति का भी बंध हो, अन्य नरकादि गति का नहीं एवं काललब्धि भी वैसी ही आ गई थी। इस कारण उसके परिणाम भी उसी जाति के हुए जिनसे सद्गति होती है। साथ में निमित्तरूप में णमोकार मंत्र का कान में पड़ना और उस पर विचार करके अरहंतादि के प्रति भक्ति श्रद्धा भी हो गई थी।

इस प्रकार जब सभी कारण मिलते हैं तब काम होता है, परन्तु कथन करने में अधिकतर निमित्त की ही मुख्यता रहती है। भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं होतीं हैं। अतः स्वाध्याय के समय इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक होता है कि कहाँ किस अपेक्षा से कथन किया गया है।

आचार्यश्री के इस प्रवचन से सभी श्रोतागण प्रथमानुयोग का स्वरूप, उसके कथन करने की पद्धति और प्रयोजन जानकर मन ही मन भारी प्रसन्न हुए और प्रवचन की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घर चले गये। □

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं; उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते है। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं, जितनी विषय-कषाय में है।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १११

२०

आचार्यश्री के सरल सुबोध शैली में हुए आध्यात्मिक प्रवचनों ने नगर में धूम मचा दी थी। उनके प्रवचनों में क्या अनपढ़, क्या पढ़े लिखे, क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या स्त्रियां, क्या पुरुष, क्या जैन, क्या अजैन, क्या नेता, क्या अभिनेता, – सभी समय पर पहुँच जाते थे; क्योंकि उनके प्रवचनों में सभी को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार तत्त्वज्ञान का लाभ मिल रहा था।

कठिन से कठिन विषय को सरल से सरल एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत करना उनके प्रवचनों की विशेषता थी।

आज आचार्यश्री के प्रवचन का विषय णमोकार महामंत्र की कथाओं के पढ़ने से उत्पन्न हुई विज्ञान की शंकाओं का समाधान करना था। उन्होंने सोचा – विज्ञान जैसे और भी अनेक परीक्षा प्रधानी पाठकों को ये शंकायें होना स्वाभाविक है; अतः क्यों न प्रवचन में ही इस विषय को स्पष्ट कर दिया जाये, ताकि सभी का एक साथ समाधान हो जाये।

आचार्यश्री ने प्रवचन की पृष्ठभूमि बनाते हुए कहा – "कल विज्ञान ने प्रवचन के बाद णमोकार महामंत्र के सदर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण शंकाओं का समाधान चाहा था, पर समयाभाव से कल वह चर्चा नहीं हो सकी तथा यह भी सोचा कि आप लोगों को भी संभवतः ये शंकायें हो सकती हैं। वैसे भी णमोकार महामंत्र जैसे विषय की यथार्थ जानकारी अति आवश्यक है। अतः आज के प्रवचनों में इसी विषय पर चर्चा होगी।"

प्रवचन प्रारंभ करते हुए आचार्यश्री ने कहा – "इस णमोकार मंत्र में उन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, जिनमें कुछ तो पूर्ण वीतरागी है और कुछ वीतरागता के मार्ग पर निरंतर अग्रसर हैं तथा जिन्हें यह देखने-सुनने की फुरसत ही नहीं है कि उन्हें कौन नमस्कार कर रहा है और कौन नहीं कर रहा है ?

अरहंत व सिद्ध भगवान पूर्ण वीतरागी हैं, उन्हें तो तुम्हारे नमस्कार से कोई प्रयोजन ही नहीं है तथा जो एकदेश वीतरागी हैं, उन आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी को भी किसी के नमस्कार करने न करने से कोई मतलब नहीं है ।

इस महामंत्र में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के सिवाय न तो किसी के कोई लौकिक काम करने-कराने की गारंटी दी गई है और न कहीं कोई आश्वासन ही दिया गया है । हाँ, एक यह गारंटी अवश्य दी है कि जो व्यक्ति इस महामंत्र का स्मरण करेगा, उसमें कहे गये पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का बारम्बार विचार करेगा; उसके मन में उस समय कोई पापभाव उत्पन्न ही नहीं होगा अर्थात् उसके उस समय होने वाले सब पापों का नाश (अभाव) हो जायेगा । वह परमात्मा की तरह ही बाहर और भीतर से पवित्र हो जायेगा ।

इस गारंटी की सीमा भी ध्यान में रखो, नहीं तो धोखा हो जायेगा । केवल इतनी गारंटी है कि जब तक मन में पंचपरमेष्ठी का स्मरण रहेगा तब तक पापभाव पैदा नहीं होंगे, आगे-पीछे की उसकी कोई गारंटी नहीं है, भूतकाल में किये गये पापों का फल भी भोगना पड़ सकता है ?

इस महामंत्र की महानता के संबंध में समय-समय पर प्रचारित कथा कहानियों से जहाँ एक ओर जैनजगत में इसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई है और जिज्ञासा जगी है, वहीं भ्रांत धारणायें भी कम प्रचलित नहीं हुई हैं । भ्रांत धारणाओं के लिए इस महामंत्र के सही स्वरूप का जितना भी अनुशीलन/परिशीलन किया जाये कम ही है ।

देखो, अविवेक की महिमा ! अविवेकियों की वणिक वृत्ति ने परमपूज्य पंचपरमेष्ठियों के साथ भी सौदेबाजी शुरू कर दी और वह भी कितनी घटिया किस्म की अविश्वास की भाषा में । पहले पंचपरमेष्ठी परमात्मा इसका काम करें, तब बाद में यह उन्हें छत्र चढ़ायेगा, विधान करायेगा, मंदिर बनवा देगा, उनके तीर्थ की यात्रा पर जायेगा और न जाने क्या-क्या करेगा उनके लिए ? पर करेगा तब, जब पहले इसका काम हो जाएगा । क्या भरोसा भगवान का ? बाद में काम किया न किया ?"

आचार्यश्री ने भक्तों की सौदेबाजी के कुछ नमूने प्रस्तुत करते हुए आगे कहा –

"महावीरजी में उल्टे हाथ लगाती हुई एक बहिन कहती ···· हे बाबा ! यदि मेरे बच्चा हो गया तो मैं आपको छत्र चढ़ाऊंगी और दुबारा आकर सीधे हाथ लगाऊंगी ।

दूसरा भाई कहता है – यदि मैं मुकदमा जीत गया तो तीर्थयात्रा पर जाऊंगा और सब तीर्थों पर पूजा-पाठ रचाऊँगा ।

तीसरा भगत कहता है – यदि मेरी बीमारी ठीक हो गई तो ऐसे ठाटबाठ से सिद्धचक्र पाठ करूँगा की लोग देखते रह जायेंगे ।

ये सब भगवान पंचपरमेष्ठी के साथ सौदेबाजी नहीं है तो और क्या है ?"

आचार्यश्री भक्तों को उनकी भूलों का अहसास कराते हुए अत्यंत गंभीरता से बोले जा रहे थे और सभी श्रोता मंत्रमुग्ध से होकर अतिजिज्ञासा से एकटक लगाये उनकी बात को सुन रहे थे ।

आचार्यश्री ने कहा – "ज्ञान की महिमा तो अपरम्पार है ही, पर अज्ञान की महिमा भी कम नहीं है । जिनवाणी के कथनों का सही अभिप्राय न समझ पाने से कैसी-कैसी भूलें होती हैं ? स्वाध्याय करने वालों को भी इसका पूरा पता नही रहता ।

णमोकार महामंत्र जैसे अनादिनिधन शाश्वत अचिन्त्य महिमावंत महामंत्र के साथ पता नहीं कैसी-कैसी घटनायें जोड़कर लोग उसकी महिमा को बढ़ाने के बजाय घटाने का काम करते हैं लौकिक कार्यों की सिद्धि हो जाने से अलौकिक महामंत्र की महिमा कैसे बढ़ सकती है ? और लौकिक कार्यों की सिद्धि तो पुण्य के प्रताप से होती है, सीधे मंत्रों के जाप जपने से नहीं । हाँ, यदि मंत्र जपते हुए कषायें अत्यन्त मंद रहे तो पुण्यबंध होता है ।"

विज्ञान ने अब तक के अल्पकालीन स्वाध्याय में कथा-कहानियों के माध्यम से जो पढ़ा था और विद्वानों के प्रवचनों में जो सुना था, उसके आधार पर ही उसने कल प्रश्न पूछा था, उसका कहना था –

"पुराणों की बातें मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आतीं । मैं बहुत प्रयास करता हूँ, परन्तु समाधान मिलने के बजाये आशंकाएँ ही अधिक बढ़ती जाती हैं ।"

विज्ञान का मूल प्रश्न यह था कि – "क्या पुराणों की कथाओं के अनुसार णमोकार महामंत्र के स्मरण मात्र से वस्तुतः सब संकट दूर

हो जाते हैं और सब पाप नष्ट हो जाते हैं ? जैसा कि पुण्यास्रव कथाकोष में उल्लिखित इन कथाओं से स्पष्ट है –

पहली कथा में स्पष्ट उल्लेख है कि – सुग्रीव के जीव ने बैल की योनि में मरणासन्न दशा में सेठ के द्वारा णमोकारमंत्र सुनकर स्वर्ग प्राप्त किया था।

दूसरी कथा में साफ-साफ कहा गया है कि – चारण ऋद्धि धारी ऋषियों के द्वारा प्रबोध को प्राप्त हुआ बंदर महामंत्र णमोकार के प्रभाव से दोनों लोकों में सुख भोगकर केवली पद को प्राप्त हुआ।

तीसरी कथा में चर्चा आई है कि – राजा विंध्यकीर्ति की पुत्री विजयश्री सुलोचना के द्वारा सुनाये गये मंत्र के प्रभाव से इंद्राणी हुई।

चौथी कथा में यह कहा गया है कि – वह बकरा, जिसे मरते समय चारुदत्त ने णमोकार मंत्र सुनाया, उससे वह दिव्य शरीर वाला देव हुआ।

पांचवीं कथा में आया है कि – वे नाग-नागिनी, जिन्हें पार्श्व-कुमार ने मरणासन्न दशा में णमोकार मंत्र दिया, उससे वे धरणेंद्र पद्मावती हुए।

छठवीं कथा में कहा है कि – कीचड़ में फंसी हुई हथिनी विद्याधर द्वारा दिए गये महामंत्र के प्रभाव से भवान्तर में राजा जनक की पुत्री सीता हुई।

सातवीं कथा में यह कहा है कि – दृढ़सूर्य चोर शूली पर दुस्सह दुःख से व्याकुल होकर यद्यपि जल पीने की आशा से णमोकार मंत्र का उच्चारण कर रहा था, तब भी उसके प्रभाव से वह देवपर्याय को प्राप्त हुआ।

अंतिम आठवीं कथा में तो यहाँ तक कह दिया है कि – विवेकहीन सुभग ग्वाला उस मंत्र के केवल प्रथम पद के उच्चारण मात्र से तद्भव मोक्षगामी सुदर्शन सेठ हुआ और उसने उसी भव से मुक्ति की प्राप्ति की।

यदि वस्तुतः ऐसा है तो जो प्रतिदिन नियमित रूप से त्रिकाल णमोकार मंत्र का जाप करते हैं, पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हैं, उनके जीवन में अनेक दुःख या संकट क्यों देखे जाते हैं ? अथवा जो स्वयं पंचपरमेष्ठी में शामिल है, ऐसे पांच पांडवों पर ऐसा भयंकर उपसर्ग

क्यों हुआ ? उन्हें अंगार सदृश जलते हुए लोहे के कड़े क्यों पहनाये गये और पहना भी दिये तो ठंडे क्यों नहीं हुए ?

एक नहीं ऐसे अनेक पौराणिक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिन्होंने हृदय से पंचपरमेष्ठी की आराधना की, प्रतिदिन णमोकार मंत्र का जाप किया और स्वयं भी पंचपरमेष्ठी के पदों पर विराजमान रहे, फिर भी उन्हें अनेक प्रतिकूल प्रसंगों का सामना करना पड़ा — ऐसा क्यों हुआ ?

भावलिंगी संत तद्भव मोक्षगामी सुकुमाल मुनि को स्यालिनी ने खाया, सुकौशल मुनिराज को शेरनी ने खाया, गजकुमार मुनिराज के सिर पर जलती हुई सिगड़ी रख दी गई, राजा श्रेणिक के द्वारा मुनिराज के गले में मरा सांप डालने से मुनिराज को लाखों लाख चींटियों ने काटा, श्रीपाल को कुष्ट रोग ने घेरा, तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया और मुनिराज आदिनाथ को छह माह तक प्रतिदिन लगातार आहार की चर्या पर निकलने पर भी आहार नहीं मिला, महासती सीता को दो-दो बार बनवास के दुःख उठाने पडे, राम भी १४ वर्ष तक वन-वन भटकते फिरे, प्रद्युम्नकुमार को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा, जीवन्धर और उनके माता-पिता रानी विजया व सत्यन्धर को मरणतुल्य कष्ट झेलने पड़े, महासती मनोरमा को मजदूरी करनी पड़ी, सुदर्शन सेठ को सूली पर चढ़ना पड़ा, सैकड़ों मुनियों को घानी में पिलना पड़ा, अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनियों को बलि आदि मंत्रियों कृत उपसर्ग झेलने पड़े। आखिर ऐसा क्यों हुआ ?

जबकि ये सब पंच नमस्कार मंत्र के आराधक तो थे ही, इनमें अधिकांश तद्भव मोक्षगामी और भावलिंगी संत भी थे और आदिनाथ व पार्श्वनाथ तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान की भूमिका में स्थित थे, फिर भी उन पर उपसर्ग क्यों हुए ?

इससे स्पष्ट है कि अकेले स्मरण से ही कार्य की सिद्धि नहीं होती। कार्य की सिद्धि तो अनेक कारणों से ही होती है, पर जिस कारण की महिमा बतानी होती है; उसे मुख्य करके शेष कारणों को गौण किया जाता है। यही जिनवाणी के कथन की शैली है।

× × ×

"सब पापों के नाश" का तात्पर्य यह है कि — जबतक उसका ध्यान णमोकार मंत्र पर रहेगा, तब तक उसका उपयोग अन्य इंद्रिय

विषयों में या पापभावों में जाएगा ही नहीं। अतः पापभावों की उत्पत्ति ही नहीं होगी। यह सब पापों के नाश का स्वरूप है।

दूसरी बात यह है कि – जो व्यक्ति णमोकार मंत्र के माध्यम से पंचपरमेष्ठी का स्वरूप भली-भांति जानकर उनका स्मरण करता है, भक्ति करता है, बहुमान करता है, वह अवश्य ही उनके द्वारा बताये गये मुक्ति के मार्ग पर चलेगा। जब वह स्वयं उनके बताए गये मुक्ति के मार्ग पर चलेगा तो वह एक न एक दिन पंचपरमेष्ठी पद में शामिल भी हो जावेगा।

ऐसी स्थिति में वह पूर्वकृत पापों से बंधे कर्मों की निर्जरा भी करेगा। इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर ही णमोकार मंत्र के जाप को सर्व पापों का नाश करने वाला कहा गया है।

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि णमोकार मंत्र का लाभ मात्र वर्तमान पापभावों एवं पापों से बचना ही है, तो वर्तमान पापों से एवं पापभावों से तो हम किसी अन्य महापुरुषों के स्मरण से भी बच सकते हैं, इसमें णमोकार मंत्र की ही क्या विशेषता रही?

इसका समाधान यह है कि रागियों के चिंतन/स्मरण से राग-भावों की महिमा ही दृष्टि में रहेगी, वीतरागता की नहीं। वीतराग की महिमा आये बिना लौकिक कामनाओं का अभाव नहीं होता, अपितु कामनाओं की पूर्ति की कामना ही जागृत होती है, जो स्वयं पापभाव है, पाप का कारण है।

अतः उन्होंने कहा – "देखो एक कार्य के होने में अनेक कारण मिलते हैं, तब कहीं कार्य संपन्न होता है। तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी कारण महत्त्वपूर्ण होते हैं। जिसप्रकार लाखों रुपयों की मशीन में दो रुपये के स्क्रू का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। उसी प्रकार प्रत्येक कार्य में सभी कारणों का अपना-अपना स्थान है; पर कथन में कभी कोई कारण मुख्य होता और कभी कोई अन्य।

उदाहरण के तौर पर हम एक ऐसे बीमार व्यक्ति को लें, जिसे अचानक हार्ट अटेक हुआ है और डॉक्टर के कहे अनुसार यदि समय पर मेडिकल एड न मिलती तो वह दो घंटे में ही दम तोड़ने वाला था, परन्तु पड़ौसी ने यथासमय उसे इमरजेंसी वार्ड में पहुंचाकर और होशियार डॉक्टर को बुलाकर रात में २ बजे मेडिकल स्टोर्स खुलवाकर जान बचाने वाले के लिए अत्यंत आवश्यक दवा की व्यवस्था कर दी,

जिससे वह मरीज बच गया। इसप्रकार उस मरीज की जान बचाने में चार कारण मिले :--

१. पड़ौसी २. डॉक्टर ३. मेडीकल स्टोर वाला और ४. दवा।

अब देखिये इस घटना के प्रत्यक्षदर्शियों में से एक व्यक्ति तो पड़ौसी के गीत गाते हुए कहता है - पड़ौसी हो तो ऐसा हो। यदि वह समय पर व्यवस्था नहीं करता तो बेचारा मर ही जाता।

दूसरा डॉक्टर के गीत गाता है .... कहता है ......काश ! ऐसा होशियार डॉक्टर समय पर न मिलता, तो वह बेचारा अपने जीवन से ही हाथ धो बैठता।

तीसरा कहता है - अरे ! यह तो सब ठीक है, परन्तु यदि वह दवाई समय पर उपलब्ध न होती तो बेचारा डॉक्टर भी क्या कर सकता था ? उस बेचारे दुकानदार की कहो, जिसने रात के दो बजे दुकान खोलकर दवा दे दी।

चौथा कहता है - इन बातों में क्या धरा है ? आयुकर्म ही सर्वत्र बलवान है। यदि आयु ही समाप्त हो गई होती तो धनवंतरी जैसा वैद्य भी नहीं बचा सकता था। ये सब तो निमित्त की बातें हैं। जब जीवनशक्ति ही समाप्त हो जाती है तो सारे के सारे प्रयत्न धरे रह जाते हैं। मौत के आगे किसी का वश नहीं चलता। यदि पड़ौसी, डॉक्टर, मेडिकल स्टोर वाला और दवायें ही बचाती होतीं तो डॉक्टर आदि ने अपने सगे माँ-बाप एवं प्रिय कुटुम्ब-परिवार को क्यों नहीं बचा लिया ? बचा लेते न वे उन्हें !

पांचवें ने कहा - अरे भाई ! चारों व्यक्तियों ने तो केवल अपने-अपने विकल्पों की ही पूर्ति की है, उन्होंने तो उसके बचाने में कुछ किया ही नहीं, पर आयुकर्म भी अचेतन है, जड़ है, वह भी जीव को जीवनदान देने में समर्थ नहीं है। वह भी उन चार निमित्तों की तरह ही है।

वास्तविक बात तो यह है कि उस मरीज की उपादान की योग्यता ही ऐसी है, जिसे जहाँ जबतक जिन संयोगों में अपनी स्वयं की योग्यता से रहना होता है, तबतक उन्हीं संयोगों के अनुरूप उसे वहाँ उसी रूप में सब बाह्य कारण कलाप सहज ही मिलते जाते हैं। **एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तो कुछ करता ही नहीं, द्रव्यों का समय-समय होने वाला परिणमन भी स्वतंत्र है। ऐसा ही प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है।**

आयुकर्म का उदय भी एक निमित्त कारण ही है। निमित्त होते तो अवश्य हैं, पर वे कर्त्ता नहीं हैं। कार्य के समय उनकी उपस्थिति होती है, अतः कभी किसी को महत्त्व मिल जाता है और कभी किसी को। वक्ता के द्वारा जब जिसको जैसा मुख्य गौण करना होता है, कर देता है। वास्तविक कारण तो जीव की तत्समय की योग्यता ही है।

कहा है–

तादृशी जायते बुद्धिःव्यवसायश्चतादृशाः।
सहायास्तादृशाः संति यादृशी भवितव्यता ।।

अर्थात् जीव का जिस समय जैसा जो होना होता है, तदनुसार ही बुद्धि या विचार उत्पन्न हो जाते हैं। प्रयत्न भी वैसे ही सहज होने लगते हैं, सहयोगियों में वैसा ही सहयोग करने एवं दौड़-धूप करने की भावना बन जाती है और कार्य हो जाता है; अतः कारणों के मिलाने की आकुलता मत करो।

देखो ! कारण मिलाने को मना नहीं किया है, बल्कि उसको मिलाने की आकुलता न करने को कहा है।

जिसे वस्तु के स्वतंत्र परिणमन में श्रद्धा-विश्वास हो जाता है, उसे आकुलता नहीं होती। भूमिकानुसार जैसा राग होता है, वैसी व्यवस्थाओं का विकल्प तो आता है; पर कार्य होने पर अभिमान न हो तथा कार्य न होने पर आकुलता न हो; तभी कारण-कार्य व्यवस्था का सही ज्ञान है – ऐसा माना जायेगा।

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि दवायें और डॉक्टर कुछ नहीं करते तो लाखों डॉक्टर्स, करोड़ों रुपयों के मेडिकल साधन सब बेकार हैं क्या और क्या शासन का करोड़ों रुपयों का मेडिकल बजट व्यर्थ ही बरबाद हो रहा है, पानी में जा रहा है ?

यह किसने कहा कि सब बेकार है ? मैं तो यह कह रहा हूँ कि जब जो कार्य होना होता है, तब उसके अनुरूप सभी कारण कलाप मिलते ही हैं। कहने का अर्थ यह है कि एक कार्य होने में अनेक कारण होते हैं, किंतु कथन किसी एक कारण की मुख्यता से किया जाता है, अन्य कारण गौण रहते हैं।

मुख्य-गौण करके कथन करने की ये ही तो विभिन्न अपेक्षायें हैं। पहले व्यक्ति ने पड़ौसी को मुख्य किया, दूसरे ने डॉक्टर को, तीसरे ने

दवा को मुख्य किया और चौथे ने आयुकर्म को मुख्य कर दिया। इसी कथन शैली को तो स्याद्वाद कहते हैं।

अरे भाई! विज्ञान के जीवन को ही देखो न? उसकी होनहार भली थी तो उसे एक के बाद एक अनुकूल निमित्त भी मिलते गये और उसके परिणामों में विशुद्धि आती गई, रुचि बढ़ती गई। निमित्त तो इसके पहले भी कम नहीं मिले थे। मैंने ही उन्हें कितना समझाने की कोशिश की थी, पर वे कहाँ समझे थे? अब वे कभी उस सत्साहित्य को श्रेय देते हैं तो कभी अपने मित्र ज्ञान को धन्यवाद देते हैं, कभी अपने भाग्य को सराहते हैं तो कभी अपने दादाजी की प्रशंसा करते हैं; जिन्होंने अपने घर में ऐसे सत्साहित्य का संकलन किया था। इसप्रकार कभी किसी को मुख्य करते हैं और कभी किसी को। जब किसी एक को मुख्य करते हैं तो शेष कारण अपने आप गौण हो जाते हैं।

यही बात णमाकार महामंत्र संबंधी पौराणिक कथाओं के संबंध में भी जानना चाहिए। वहाँ स्वर्गादिक की प्राप्ति में परिणामों की विशुद्धि आदि कारण तो अनेक हैं, पर परमेष्ठी की शरण में पहुंचाने के प्रयोजन से णमोकार मंत्र के सुनने-सुनाने को मुख्य किया गया है और शेष कारणों को गौण कर दिया है।

× × ×

विज्ञान ने जाते-जाते एक प्रश्न और पूछा था। उसका कहना था कि – "पुराणों में तथा मुनिराजों की वाणी में शंका प्रगट करने से महापाप होता है, फिर भी मैं आपके एवं पुराणों के कथनों में शंका प्रगट कर रहा हूँ, इससे मेरा कोई अनर्थ तो नहीं जो जायेगा?"

उसके इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने कहा— "अरे भाई! अनर्थ तो शंकाओं को मन में रखने से होता है। गुरु के समक्ष शंका प्रगट करने से तो शंकाओं का समाधान होता है।"

आचार्यश्री ने विज्ञान की शंकाओं को स्वाभाविक बताते हुए आगे कहा – "विज्ञान! तुम निःसंदेह निकट भव्य हो, धर्म के क्षेत्र में परीक्षा प्रधानी होना धर्म के प्रति अश्रद्धा नहीं है। परीक्षा करके जो बात स्वीकार की जाती है, वही श्रद्धा अटूट एवं अचल होती है।

स्वाध्याय में शंकायें उत्पन्न होना तो स्वाध्याय का शुभलक्षण है। शंकाएँ या तो सर्वज्ञ को नहीं होतीं या उन अल्पज्ञों को जो केवल स्वाध्याय का नियम निभाने में ही धर्म समझ बैठे हैं। जिसे जरा भी जिज्ञासा होती है, उसे तो शंकायें उत्पन्न होती ही हैं।

शंकायें उत्पन्न होना कोई बड़ी समस्या नहीं है; क्योंकि ज्ञान स्वयं सर्व समाधानकारक है और फिर आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। जिसतरह पानी स्वयं अपना रास्ता बना लेता है, खोज लेता है; ठीक उसीतरह जिज्ञासु भी अपनी शंकाओं के अधिकांश समाधान तो स्वयं ही खोज लेते हैं। फिर भी नियमित स्वाध्याय और समय-समय पर सत्संग और तत्त्वचर्चा भी उपयोगी है। जिस प्रकार दही मथने से मक्खन निकलता है, उसीतरह तत्त्व का मंथन करने से सुख-शांति और समताभाव प्रगट होता है, धर्म प्रगट होता है; अतः निर्भय व निःशंक होकर शंका-समाधान करना चाहिए।

सभी जीव जिनवाणी के रहस्य को समझें और सच्चा सुख प्राप्त करें – इस मंगलभावना के साथ आज के वक्तव्य से यहीं विराम लेता हूँ।"

इसप्रकार कहते-कहते मुनिश्री ने अपने वक्तव्य को विराम दिया और सभी जिज्ञासु उन्हें सविनय नमस्कार कर अपने-अपने घर को चले गये। महाराजश्री भी अपने स्वाध्याय में निमग्न हो गये। □

मै एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे ? डॉक्टर के बारे में पूरी-पूरी तपास करते हैं। डॉक्टर भी जिस काम मे माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नही होता। डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर; यदि हम कुर्त्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते है, और दर्जी भी यदि कुर्त्ता सीना नही जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है। पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ११३

(२१)

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि – बालक का मस्तिष्क एक ऐसा कोरा कागज है, जिस पर जो भी सही या गलत प्रारम्भ में लिख दिया जाता है, वह अपनी ऐसी अमिट छाप छोड़ता है कि फिर उसे न तो आसानी से मिटाया जा सकता है, न बदला जा सकता है। बालक को जो प्रारम्भिक जीवन में सिखा दिया जाता है, उसका सरल हृदय उसे ही सच मान लेता है।

संभवत: इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हमारे बुजुर्गों ने बालकों की शिक्षा का प्रारम्भ 'ओम् नम: सिद्धं' से करने का निर्णय लिया होगा। सिद्ध परमात्मा को स्मरण करके बालकों को आध्यात्मिक विद्या सिखाते होंगे। ४५ दिन के बालक को मन्दिर में ले जाकर णमोकार महामंत्र सुनाने की परम्परा तो आज भी प्रचलित है।

प्रो० ज्ञान के दादाश्री इस बाल मनोविज्ञान से सुपरिचित थे। अत: उन्होंने अपने पोते ज्ञान को अन्य लौकिक विषय सिखाने-पढ़ाने के पूर्व तत्त्वज्ञान ही सिखाया था। इस कारण दोनों के सोचने के तरीके में जमीन-आसमान का अन्तर आ गया था। एक ही प्रश्न के दोनों के भिन्न-भिन्न उत्तर होते थे। ज्ञान हर बात को तात्विक दृष्टि से सोचता था, उसके सोच में तत्त्वज्ञान झलकता था और विज्ञान सदैव भौतिक दृष्टि से सोचता था।

× × ×

गत ३ माह से ये ज्ञान और विज्ञान दोनों ही नियमित रूप से उपवन में आचार्यश्री का प्रवचन सुनने पहुँच रहे थे। इस कारण आचार्यश्री इनके आचार-विचार और व्यवहार से तो भली-भाँति परिचित हो चुके थे, पर वे चाहते थे कि अन्य लोग भी धार्मिक संस्कारों से होने वाले लाभ तथा संस्कार हीन बालकों की दुर्दशा को जाने और तत्त्वज्ञान के महत्त्व को पहचाने। एतदर्थ उन्होंने ज्ञान और विज्ञान के संस्कारों के अन्तर को स्पष्ट करने के उद्देश्य से उनसे कुछ प्रश्नोत्तर करने का विचार किया।

एक दिन जब आचार्यश्री ने ज्ञान व विज्ञान को प्रवचन मंडप के सामने बैठा देखा तो उनके माध्यम से सम्पूर्ण धर्मसभा को तत्त्वज्ञान और संस्कारों की उपयोगिता समझाने के उद्देश्य से विज्ञान की ओर हाथ का इशारा करते हुए पूछा – "बताओ तुम कौन हो और तुम्हारा क्या नाम है ? तुम कहाँ रहते हो और तुम्हारा क्या काम है ?"

विज्ञान ने अपने भौतिक चिंतन के अनुसार उत्तर दिया – "मैं जैन हूँ, विज्ञान मेरा नाम है, जयपुर में रहता हूँ और पढ़ना-लिखना तथा वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा नये-नये आविष्कार करना मेरा काम है।"

आचार्यश्री ने यही प्रश्न पुनः ज्ञान की ओर हाथ का इशारा करते हुए पूछा – "तुम बताओ तुम कौन हो और तुम्हारा क्या नाम है। तुम कहाँ रहते हो और तुम्हारा क्या काम है ?"

ज्ञान ने अपने तात्विक चिंतन के आधार पर उत्तर दिया – "वस्तुतः मैं जीवतत्त्व हूँ और शुद्धात्म मेरा नाम है तथा मैं अपने स्वरूप चतुष्टय में रहता हूँ और मात्र जानना मेरा काम है।"

आचार्यश्री ने ज्ञान से ही पुनः प्रश्न किया – "तुमने अपना यह वस्तुगत अलौकिक परिचय क्यों दिया ? व्यक्तिगत लौकिक परिचय क्यों नहीं दिया ? क्या ऐसा परिचय देने से लोग तुम पर हंसेंगे नहीं ?"

ज्ञान ने गंभीर होकर विनम्रता से उत्तर दिया – "महाराज ! मुझमें आपकी कृपा से इतना विवेक हो गया है कि कहाँ/किसको/क्या उत्तर देना चाहिए. इस कारण मैं हंसी का पात्र नहीं बन सकता।

चूंकि यह प्रश्न एक धर्म गुरु ने प्रवचन के बीच पूछा है। अतः मैंने सोचा – 'आपको मुझसे इसीप्रकार के उत्तर की अपेक्षा थी।'

यदि यही प्रश्न मुझसे कॉलेज के प्रोफेसर ने किया होता या इन्कमटैक्स ऑफीसर ने किया होता, तो उसे मैं अपना व्यक्तिगत लौकिक परिचय देता। उनसे कहता – 'ज्ञान मेरा नाम है, दिल्ली में मेरा धाम है, मैं प्रोफेसर हूँ और पढ़ाना-लिखाना मेरा काम है।'

पर यह परिचय तो केवल लोक में कामचलाऊ परिचय है, कदम-कदम पर झूठा पड़ने वाला परिचय है; क्योंकि लोकव्यवहार में केवल एक नाम से काम नहीं चलता, यहाँ तो क्षण-क्षण में और कदम-कदम पर नाम, काम, धाम और व्यक्तित्व बदलते रहते हैं।

देखिये न ! मैं कौन हूँ । इस प्रश्न के कितने उत्तर हो सकते हैं । मैं भारतीय हूँ, हिन्दी भाषी हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं जैन हूँ, मैं प्रोफेसर हूँ, मैं विद्यार्थी हूँ, मैं आत्मार्थी हूँ, मैं बाप भी हूँ, बेटा भी हूँ; शिष्य भी हूँ, गुरु भी हूँ, भाई भी हूँ, भतीजा भी हूँ, भानजा भी हूँ, मामा भी हूँ आदि-आदि । जितने रिश्ते हैं, लोक व्यवहार में मैं वह सब हूँ ।

हॉस्पिटल में मैं मरीज हूँ, बस में रेलगाड़ी में यात्री हूँ, दुकान पर ग्राहक हूँ, सभा में श्रोता हूँ । क्या-क्या गिनाऊँ । लोक में हर कदम पर और हर पल मेरा एक नया नाम रख दिया जाता है । जो हर कदम पर और हर पल बदले, वह मैं कैसे हो सकता हूँ । मैं तो कभी न बदलने वाला ध्रुव आत्मतत्त्व हूँ ।

जबतक पर सापेक्ष परिचय दिया जायेगा, तबतक तो यही स्थिति रहेगी । यद्यपि लोक में काम चलाने की अपेक्षा यह परिचय भी ठीक है, पर यह परिचय वास्तविक वस्तुगत परिचय नहीं है । यह सब तो संयोगी कथन है ।

और आपको मेरे इस परिचय से क्या प्रयोजन हो सकता है ? अतः मैंने आपको अपना वस्तुगत अलौकिक परिचय दिया है ।

यही स्थिति मेरे नाम, काम और धाम की है, माता-पिता को मैं 'ज्ञानू' हूँ और मित्रों को 'ज्ञान' । समाज के लिए 'ज्ञानप्रकाशजी हूँ' और कॉलेज में "प्रोफेसर ज्ञान जैन" ।

इसी तरह मैं क्या बताऊँ कि मैं कहाँ रहता हूँ ? लोक में मेरा कोई एक ठिकाना तो है नहीं, कभी कहीं तो कभी कहीं । इसी तरह कोई एक निश्चित काम भी नहीं है, कभी कुछ करता हूँ, तो कभी कुछ । कभी पढ़ता हूँ तो कभी पढ़ाता हूँ ।"

ज्ञान के अटपटे किन्तु युक्ति-संगत उत्तर सुनकर श्रोताओं को एक विचित्र-सी अनुभूति हुई थी । आचार्यश्री भी मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे, क्योंकि वे जो स्पष्टीकरण करना चाहते थे, वह ज्ञान के उत्तरों से बहुत कुछ स्पष्ट तो हो ही चुका था । अतः उसी पर अपनी छाप लगाते हुए आचार्यश्री ने कहा – "देखो विज्ञान ! तुम भी वस्तुतः जैन नहीं, जीव हो; जैन तो इसलिए कहलाते हो कि तुमने

जैन कुल में जन्म लिया है, यदि तुमने क्षत्रिय कुल में जन्म लिया होता तो तुम्हें जैन कौन कहता ? फिर तो तुम क्षत्रिय कहलाते न ? तुम भी अपने को क्षत्रिय मानने में ही अपना गौरव समझते । तुम्हें स्वयं भी जैनपना स्वीकृत नहीं होता ।

इसीतरह तुम्हारा नाम भी वस्तुत: विज्ञान नहीं है, तुम्हारा वास्तविक नाम तो शुद्धात्म है, ज्ञायक है । विज्ञान तो तुम्हारे माता-पिता का रखा हुआ नाम है । काश चुन्नू, मुन्नू, कल्लू, मल्लू, पप्पू, सप्पू या बबलू, डबलू आदि नामों में से कोई एक नाम रख देते तो क्या तुम उसी नाम से नहीं पुकारे जाते ?

इसीप्रकार तुम वस्तुतः जयपुर में नहीं अपने स्वरूप में रहते हो और केवल जानने-देखने का काम करते हो, पठन-पाठन, धंधा-व्यापार और साइंस के प्रयोग करना तुम्हारा यथार्थ काम नहीं है ।

यदि तुम वस्तुत: विज्ञान ही हो तो बताओ जब तुम्हारे माता-पिता ने यह नाम नहीं रखा था, तब भी तुम थे या नहीं ? और अगले जन्म में जब यह नाम नहीं रहेगा तब भी तुम रहोगे या नहीं ? यदि रहोगे तो तुम वस्तुत: विज्ञान कैसे हो सकते हो ? तुम तो भगवान आत्मा हो, जो सदा सभी अवस्थाओं में रहता है तथा तुम्हारे ये काम-धाम जातियाँ व उपजातियाँ भी तो बदलती रहती हैं । अत: इन जातियों से भी आत्मा की पहचान नहीं होती ।"

आचार्यश्री समझा रहे थे और सभी श्रोता मंत्रमुग्ध होकर सुन रहे थे; क्योंकि उन्हें कभी ऐसी बातें सुनने को मिली ही नहीं थीं ।

आचार्यश्री बोले – "हाँ तो मैं यह कह रहा था कि जो बातें बालक प्रारम्भ में सीख लेता है, उसे ही सब मान लेता है ,तभी तो विज्ञान को केवल क्षणिक वर्तमान पर्याय का सत्य जो क्षण-क्षण में असत्य में बदलता रहता है, वह तो सत्य-सा लग रहा था और जो कभी न बदलने वाला ध्रुव स्वभावी त्रैकालिक सत्य है, वह सत्य नहीं लगता था ।

यही तो वर्तमान शिक्षा का दोष है । अत: बालकों को लौकिक भौतिक विज्ञान की शिक्षा दिलाने के पूर्व या साथ-साथ तत्त्वज्ञान की शिक्षा एवं सदाचार के संस्कार भी देना चाहिए । हम लौकिक शिक्षा

पढ़ाने को मना नहीं करते, पर वह तो केवल एक जन्म की ही समस्या का समाधान देगी, वह भी भाग्योदय के साथ; पर तत्त्वज्ञान की शिक्षा तो जन्म-जन्मान्तर के दु:खों को दूर करने वाली शिक्षा है, अतः उस शिक्षा व संस्कारों की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए।

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्राचीनकाल में शिक्षा के संबंध में यह रीति नीति निर्धारित की गई होगी कि बालकों को सर्वप्रथम धार्मिक और आध्यात्मिक विद्या पढ़ाई जावे, तदन्तर ही उसे अर्थकरी साहित्य, संगीत कला और विज्ञान तथा शस्त्रादि विद्यायें सिखाई-पढ़ाई जावें, इसी वजह से पहले "ओम् नमः सिद्धं" से ही पढ़ाई का प्रारम्भ होता था, जो बाद में बिगड़ते-बिगड़ते "ओ ना मा सी धम" हो गया। इसप्रकार शिक्षा के क्षेत्र में अध्यात्म विद्या नगण्य हो गई और उसका स्थान ईसाई संस्कृति ने ले लिया है। इसकारण लोग "ओम् नमः सिद्धम्" का सही अर्थ ही भूलते जा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति से घृणा करने वालों ने तो इसका मजाक बनाते हुए यहाँ तक कहना प्रारंभ कर दिया था कि – 'ओ ना मा सी धम, बाप पढ़े ना हम' अर्थात् 'ओम् नमः सिद्धं' जैसी भारतीय अध्यात्म विद्या न हमारे बाप-दादों ने पढ़ी थी और न हमें पढ़ना है।

आज का युग आर्थिक और वैज्ञानिक युग है, अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी संतान को अर्थकरी तकनीकी शिक्षा ही दिलाना चाहता है, यहाँ तक तो कोई बात नहीं है, उचित भी है; पर दु:ख की बात तो यह है कि उसके लिए हमें ईसाई संस्कृति की गोद में जाना पड़ रहा है, जहाँ ईसाई धर्म के संस्कार तो दिये ही जाते हैं, साथ में अंडा, मांस, मछली आदि मांसाहार को भी प्रोत्साहन दिया जाता है एवं उसे श्रेष्ठ आहार बताया जाता है। इस कारण विद्यार्थी धीरे-धीरे भारतीय एवं जैन संस्कृति से दूर होता जा रहा है।

ऐसी स्थिति में आज यह अति आवश्यक हो गया है कि हम अपने बालक-बालिकाओं को उस वातावरण में भेजने के पहले बाल मनोविज्ञान के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर सर्वप्रथम अहिंसा का पाठ पढ़ाएँ। भगवान महावीर के मूलभूत सिद्धान्तों से अवगत

कराएँ तथा लौकिक शिक्षा के साथ-साथ तात्विक ज्ञान व सदाचार के संस्कार भी देते रहें।

अरे भाई ! जरा सोचो तो सही, हम मात्र वर्तमान मानव जीवन के ७०-७५ वर्ष सुखपूर्वक जीने के लिए जीवन का एक-तिहाई भाग लगभग २५ वर्ष की किशोर अवस्था तो हम विशुद्ध अर्थकरी लौकिक शिक्षा के अर्जन में ही बिता देते हैं, जिसमें केवल गुलाम बनने की गारंटी मिलती है तथा शेष जीवन का सारभूत संपूर्ण यौवन के ३०-३५ वर्ष धनोपार्जन और कुटुम्ब परिवार के भरण-पोषण में बिता देते हैं, जो केवल भाग्याधीन है। यदि भाग्योदय न हो तो पूरी पढ़ाई का सारा परिश्रम व्यर्थ ही जाता है। वह अर्थकरी विद्या भी कुछ काम नहीं आती। इसके प्रमाण में यह लोक प्रसिद्ध कहावत कहीं भी सुनी जा सकती है कि -- 'पढ़ी पारसी बेचै तेल, यह देखो कर्मों का खेल'।

साठ वर्ष के बाद बुढ़ापे का जीवन भी कोई जीवन है। उसे तो ज्ञानियों ने अर्धमृतक की संज्ञा देकर पहले ही अधमरा घोषित कर दिया है।

ऐसी स्थिति में विचारणीय यह है कि जब अपने और अपने कुटुम्ब परिवार के जीवन को सुखी-दुखी बनाना हमारे हाथ में ही नहीं है ; जो पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप के अनुसार ही अनुकूल/प्रतिकूल संयोग मिलता है, उसके लिए तो इतना श्रम, शक्ति व समय का अपव्यय ? और जिस आगामी अनन्तकाल के भविष्य को उज्ज्वल बनाना हमारे हाथ में है हमारे पुरुषार्थ के आधीन है – स्वाधीन है, उस दिशा में सोचने समझने तक का समय नहीं, यह कैसी विडम्बना है ? हमें सर्वप्रथम अपने बालकों में तत्त्वज्ञान के ही संस्कार देना चाहिए।

यदि नगर में या मोहल्ले में वीतराग-विज्ञान पाठशाला न हो तो माता-पिता स्वयं ही बालक के प्रथम गुरु हैं, अतः माता-पिता आत्मा व परमात्मा के स्वरूप को जानें-पहचाने और बालकों में भी यही संस्कार डालें।

माँ से प्राप्त संस्कारों का ही सुफल था कि आचार्य कुंदकुंद ११ वर्ष की छोटी-सी उम्र में नग्न दिगम्बर साधु बन गये थे और

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड व पंचास्तिकाय जैसे महान पंचपरमागम के रूप में आध्यात्म शास्त्र हमें दे गए हैं।

धन्य हैं वे माता-पिता और धन्य हैं, वे कुंदकुंद से बालक; जिन्होंने पालना में ही अपने पूर्वजों से तत्त्वज्ञान के संस्कार प्राप्त कर लिए थे। सभी को ऐसा सुअवसर प्राप्त हो – इसी भावना के साथ आज का प्रवचन यहीं समाप्त करते हैं।" – ऐसा कहकर आचार्यश्री ने अपना प्रेरणास्पद प्रवचन समाप्त कर दिया।

जिनवाणी स्तुति के बाद सभी श्रोता प्रसन्न मुद्रा में आज के व्याख्यान की सराहना करते हुए अपने-अपने घर चले गये। विज्ञान को भी अपने अज्ञान का अहसास हो गया। अतः वह तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में और अधिक सक्रिय हो गया। ▣

मैं कौन हूँ

"मैं" शरीर, मन, वाणी और मोह-राग-द्वेष, यहाँ तक कि क्षणस्थायी परलक्षी बुद्धि से भिन्न एक त्रैकालिक, शुद्ध, अनादि-अनन्त, चैतन्य, ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ, जिसे आत्मा कहते हैं।

जैसे मैं बंगाली हूँ, मैं मद्रासी हूँ और मैं पंजाबी हूँ,' इस प्रान्तीयता के घटाटोप में आदमी यह भूल जाता है कि 'मैं भारतीय हूँ' और प्रान्तीयता की सघन अनुभूति से भारतीय राष्ट्रीयता खण्डित होने लगती है; उसीप्रकार मैं मनुष्य हूँ, देव हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, बालक हूँ, जवान हूँ' आदि में आत्मबुद्धि के बादलों के बीच आत्मा तिरोहित-सा हो जाता है। तथा जैसे आज के राष्ट्रीय नेताओं की पुकार है कि देशप्रेमी बन्धुओं ! आप लोग मद्रासी और बंगाली होने के पहिले भारतीय हैं, यह क्यों भूल जाते हैं ? उसी प्रकार मेरा कहना है कि 'मैं सेठ हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ' के कोलाहल में 'मैं आत्मा हूँ' को हम क्यों भूल जाते हैं ? – मैं कौन हूँ ? पृष्ठ १३-१४

२२

"कहने को तो मेडीकल साइन्स ने भी कम उन्नति नहीं की है, उसने भी अपने क्षेत्र में आसमान की ऊंचाईयों को छू लिया है ।

देखो न ! हृदय, किडनी, लीवर और फेफड़ों जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंगों का भी सफल प्रत्यारोपण कर डाला है ।

पर, यह जानकर आम आदमियों को खुश होने की जरूरत नहीं है; क्योंकि ये साधन सबको सहज सुलभ नहीं हो सकते । एक-एक अंग के प्रत्यारोपण में लाखों रुपये लगते हैं । कहाँ से लायेगा हर कोई व्यक्ति इतने सारे रुपये ?

मानलो, पुण्य के योग से रुपयों का साधन बन भी जाये और अंग-अंग बदलने की भी व्यवस्था हो जाये, तो भी इन अंगों का बदलना इतना आसान नहीं है, जितना कहने-सुनने में आसान लग रहा है ।

यह कोई बच्चों का खेल तो है नहीं । उसमें भी तो रिस्क है, जीवन को दाव पर लगाना पड़ता है, क्योंकि अंगों के बदलने में जीवन का खतरा अंत तक बना ही रहता है ।

ऑपरेशन सफल होने के बाद भी वह कृत्रिम अंग कितना/कब तक काम करेगा ? करेगा भी या नहीं ? ये सारी चिन्ताओं के बादल तो छाये ही रहते हैं न ? उससे जो मानसिक क्लेश और शारीरिक कष्ट होता है, उसे कोई कैसे कम कर सकेगा ?

अरे ! जो किस्मत में होगा, उसे कौन बदल सकेगा ? होनी को कौन टाल सकता है ? मौत पर किसका वश चला है ? उसके सामने तो सबको हथियार डालने ही पड़ते हैं एक न एक दिन हार माननी ही पड़ती है ।"

इसी उधेड़बुन में उलझे अन्नू और अज्जू को अस्पताल में पड़े-पड़े महीनों हो गये थे, उपचार बराबर चल रहा था; पर अभी तक आराम होने के कोई आसार नजर नहीं आ रहे थे। वे जीवन और मौत से संघर्ष कर रहे थे। उनके अन्तर्मन का क्लेश और देह का दर्द तो वे ही जाने, पर उनकी दुःख भरी आहें और समय-समय पर निकली चीखें, आँखों से बहते आंसू और पल-पल में बदलती करवटें बता रही थी कि उन्हें असह्य वेदना है। उनके एक-एक हाव-भाव से उनके कष्ट का आभास हो रहा था। उनके अत्यन्त उदास और हताश चेहरे पर उनकी जीवन के प्रति हुई निराशा स्पष्ट झलक रही थी।

× × ×

एक तो विज्ञान और उनकी पत्नी विद्या को अन्नू और अज्जू के भोलेपन और निर्धनता के कारण उन पर पहले से ही सहानुभूति थी; दूसरे, संजू और राजू के चक्कर में आ जाने से उनकी जो दुर्दशा हो रही थी, इसकारण वे दोनों उनके करुणा के पात्र भी बन गये थे।

अतएव विज्ञान और विद्या इनका हर तरह से सहयोग कर इन्हें सन्मार्ग पर लाना चाहते थे और उन्हें दुर्व्यसनों से दूर करके बीमारी के कष्टों से भी छुड़ाना चाहते थे।

इसकारण विज्ञान ने पूर्व में दिए गये आश्वासन के अनुसार उन दोनों के उपचार कराने के लिए और परिवार के भरण-पोषण के लिए आर्थिक सहयोग तो दे ही रखा था, उनके सेवा-सुश्रुषा में भी अपना तन, मन, धन और जीवन अर्पण कर रखा था।

विज्ञान की इस निःस्वार्थ सेवा और समर्पण की भावना देखकर अस्पताल के अन्य डॉक्टर भी अन्नू और अज्जू का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। क्षयरोग विशेषज्ञ डॉ० धर्मचन्द और उदररोग विशेषज्ञ डॉ० कनकलता जैसे निःस्वार्थ समाजसेवी डॉक्टरों की अमूल्य सेवायें भी उन्हें विज्ञान के प्रयास से उपलब्ध हो गई थीं। इसकारण उनके इलाज में किसीप्रकार से कोई कमी नहीं रही थी।

पर अपने-अपने पुण्य-पाप का फल तो जीव को स्वयं ही भोगना पड़ता है। उसमें कोई किसी का हाथ नहीं बटा सकता।

स्थिति यह बनी कि 'मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।' अतः डॉक्टर धर्मचन्द ने विज्ञान को निजी परामर्श देते हुए कहा कि यद्यपि एक डॉक्टर के नाते हम लोग इनके इलाज में अंतिम दम तक कोई कसर नहीं रखेंगे, परन्तु अब इनके लक्षणों से ऐसा नहीं लगता कि ये बहुत लम्बा जीवन जी सकेंगे। अतः मेरी निजी राय तो यही है कि अब इन्हें घर ले जाया जाये और वहाँ पर उनका इलाज चलने के साथ-साथ इन्हें अधिक से अधिक समय तक धर्म की बातें सुनाई-समझाई जावें, वैराग्यप्रेरक प्रसंग सुनाये जावें, पौराणिक कथाएँ सुनाई जावें। इन सबसे ही इन्हें शांति मिलेगी। यहाँ ये सब सम्भव नहीं हो सकेगा। इनके उपचार की व्यवस्था हम दोनों इनके घर पर ही कर लेंगे और समय-समय पर हम स्वयं भी देख-भाल करते रहेंगे।

× × ×

अन्नू और अञ्जू भी अब तक अस्पताल के वातावरण से ऊब चुके थे, घबरा चुके थे। उनका स्वयं का दर्द तो एक ओर रहा, उनसे दूसरों का दर्द भी देखा नहीं जाता था। आये दिन हो रही मौतें, मरीजों का चीखना-चिल्लाना, उनके चित्त को आकुल-व्याकुल कर देता था। पर बेचारे मरीज भी क्या करें? उनसे दर्द सहा नहीं जाता तो न चाहते हुए भी चीखें निकल ही पड़ती थीं।

किसी को सिर का शूल, तो किसी को कानों का कष्ट, किसी को दमा से बैचेनी तो किसी को पेट की भयंकर पीड़ा, किसी को दिन-रात खांसी से चैन नहीं तो कोई हृदय की घबड़ाहट से बैचेन। जहां देखो वहाँ दर्द ही दर्द। यदि कोई बेदर्द थे तो केवल डॉक्टर, नर्स और कम्पाउडर; जिन्हें न किसी के दर्द की परवाह और न किसी के चिल्लाने की चिंता। वे भी बेचारे क्या करें? कराहें सुनते-सुनते उनके भी कान पक गये थे, बड़ी से बड़ी चीख अब उन्हें प्रभावित नहीं करती थी।

वे दर्द दबाने की भी आखिर कितनी दवाएँ दें? दवाओं की भी तो कोई सीमाएँ होतीं हैं? अतः दवाओं से तो केवल असहनीय दर्द को ही दबाया जा सकता है। थोड़ा-बहुत दर्द तो मरीज को सहना ही पड़ता है।

उन्होंने जो यह मान रखा था कि 'मरीजों की तो आदत ही चीखने-चिल्लाने की होती है'। कुछ अंश तक तो उनके इस सोच को सच कहा भी जा सकता है, पर इससे बेचारे वे मरीज तो बेमोत मारे ही जाते हैं, जिनको वस्तुतः असह्य दर्द होता है। परन्तु यह पहचान भी कोई कैसे करे कि किसको कितना कष्ट है ? कष्ट मापने का थर्मामीटर तो किसी के पास है नहीं।

× × ×

बस, सब इन्हीं बातों से घबड़ाकर अज्जू ने अन्नू से परामर्श करके यह निश्चय किया कि विज्ञान से अस्पताल से छुट्टी दिलाने को कहें। एक दिन डरते-डरते अज्जू ने विज्ञान से बडे विनम्र शब्दों में कहा कि — हम आपका जितना भी उपकार माने थोड़ा है आप हम जैसे तुच्छ लोगों के साथ भी कितना कष्ट उठा रहे हैं और कितना रुपया हम लोगों पर खर्च कर रहे हैं। हम अनेक जन्मों में भी आपके इस ऋण से उऋण नहीं हो पायेंगे। यदि हम प्रथम परिचय में ही आपकी सलाह मान लेते और संजू की बातों में नहीं आते तो हमें ये दुर्दिन नहीं देखने पड़ते। पर होनी बलवान होती है। इस कारण आपकी बात उस समय हमारी समझ में नहीं आयी।

जाति से जैन होकर भी हमने कोई भी काम जैनधर्म के अनुकूल नहीं किया। हम कितने पापी हैं, पर हम करते भी क्या ? दुर्भाग्य से हमें जन्म से ऐसा वातावरण ही नहीं मिला, जिससे हमें धर्म-कर्म से परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता, हम तो ऐसे वातावरण में रहे कि जहाँ हमें केवल भौतिक वातावरण ही मिला। अब आपकी प्रेरणा से हमें कुछ धर्म की रुचि हुई है।

अतः हम धर्म-कर्म के विषय में जानना चाहते हैं और जितना हम से बनेगा हम आचरण भी करना चाहते हैं। अतः हमें आप यहाँ से घर ले चलो। अब हमारा यहाँ जी नहीं लगता और यहाँ रहने की अब जरूरत भी नहीं है; क्योंकि केवल तीनों समय दवा की गोलियाँ ही तो चलती हैं, यहाँ का कोई ऐसा इलाज नहीं हैं, जो घर न हो सकता हो। आपको भी बार-बार आने-जाने की परेशानी होती

है। घर पर आप लोगों से धर्म की दो बातें सीख लेंगे तो जन्म-जन्मान्तर में काम आयेंगी।

विज्ञान अज्जू और अन्नू के विचारों को सुनकर मन ही मन प्रसन्न हुआ; क्योंकि डॉक्टर धर्मचन्द की भी यही सलाह थी और विज्ञान स्वयं भी यही चाहता था। फिर भी विज्ञान ने उनके मन में हुए परिवर्तन की प्रतिक्रिया जानने के लिए कहा – "तुम्हें शेष रही-सही बुरी आदतों को भी जीवन भर के लिए छोड़ना होगा। तभी इस विषय पर विचार हो सकता है।"

दोनों ने उत्साह से कहा "हम आपकी सब बातें मानेंगे और जैसा कहेंगे, वैसा ही करेंगे।"

उस दिन से उन्होंने जो यदा-कदा चोरी छिपे शराब, सिगरेट पीते थे, उसको भी सदा के लिए तिलांजलि दे दी।

परन्तु जब खेतों में खड़ी फसलें पानी की प्रतीक्षा करते-करते सूख चुकी हों तो बाद में मूसलाधार बरसात की भी क्या कीमत? उससे उस फसल को क्या लाभ? यही स्थिति अन्नू और अज्जू की हो चुकी थी! काश वे कुछ पहिले चेत जाते। पर चेत कैसे जाते, मौत का बुलावा जो आ गया था।

अज्जू के फेफड़े सिगरेट के धुंए से अत्यन्त क्षीण हो चुके थे और अब कोई भी दवा काम नहीं कर रही थी। यही स्थिति अन्नू के लीवर की थी। यद्यपि अब कोई भी दवा काम नहीं कर सकती थी, पर 'जब तक श्वांसा तब तक आशा' के अनुसार उपचार तो चल ही रहा था।

यद्यपि अज्जू और अन्नू अपनी-अपनी करनी पर पछता रहे थे। पर 'फिर पछताये क्या होत है जब चिड़िया चुग गई खेत' वाली कहावत उनके मानस पटल पर बार-बार आ-जा रही थी। उनकी अन्तरात्मा से ऐसी आवाज आ रही थी कि लोगों से चिल्ला-चिल्ला कर कहें कि – "हम जैसी भूल भविष्य में कोई न करे।"

एक बार तो उन्होंने अपनी हार्दिक इच्छा जाहिर करते हुए यह कहा था कि आप हमारा उदाहरण प्रस्तुत करते हुए दुनिया को शराब और सिगरेट के दुष्परिणामों की घोषणा करते हुए ढिंढोरा

पिटवा दें, ताकि भविष्य में कोई सिगरेट व शराब पीना तो दूर, उन्हें छूना भी पाप समझें।

× × ×

अन्नू और अज्जू को जब अस्पताल से छुट्टी मिली तो बड़ी राहत-सी महसूस हुई। अब तो उनकी दिनचर्या ही बदल चुकी थी। उनके आचरण से ऐसा लगता ही नहीं था कि ये लोग कभी दुर्व्यसनों के शिकार भी थे।

सुनीता और सरला भी अब विज्ञान और विद्या के सम्पर्क में आने से अपने को पूर्ण सुरक्षित और सुखी अनुभव कर रही थीं। अब वे बराबर मंदिर आते, दर्शन-पूजन करते, प्रवचन में भी अपनी शक्ति के अनुसार बैठ जाते और प्रवचन में आये तत्त्वज्ञान की बातों को अपने में बिठाने का प्रयत्न करते।

उनके देह का उपचार तो यथाशक्य चल ही रहा था, साथ ही अपने साधर्मी भाइयों के साथ बैठकर विज्ञान ने उन चारों ही प्राणियों को अधिकतम धर्मलाभ पहुँचाने की भी एक व्यवस्थित योजना बना ली थी। उसमें यह तय किया गया था कि कौन/कब/कितने समय तक उनके पास बैठ कर उन्हें तत्त्वज्ञान का लाभ देगा। वैराग्यमय वातावरण बनाने के लिए शांतरस से भरपूर संगीतमय आध्यात्मिक भजन, वैराग्य भावना, समाधिकरण, शुद्धात्म शतक, छहढाला आदि सुनाने की व्यवस्था करेगा। ताकि उनके परिणाम निर्मल हों, दुर्व्यसनों के कारण उत्पन्न हुई आत्मग्लानि दूर हो और आत्मानुभूति प्राप्त करने का सुअवसर मिल सके।

साधर्मी वात्सल्य कहते ही उसे हैं, जिसमें निःस्वार्थ भाव से अपने साधर्मी भाइयों को, मित्रों को और कुटुम्ब-परिवारों को सन्मार्ग में लगाने के लिए अपना सम्पूर्ण समर्पण कर दे। इससे बढ़कर अन्य कोई पुण्य का कार्य नहीं हो सकता।

यह अन्नू और अज्जू के महान पुण्य का उदय ही समझना चाहिए कि उन्हें विज्ञान जैसा हितैषी मित्र मिल गया। विज्ञान के सम्पर्क में आते ही विज्ञान ने उनके रोग का उपचार तो कराया ही, साथ ही प्रतिदिन सुबह-शाम उनके घर जाकर उन्हें और उनकी पत्नी सरला और सुनीता को भी णमोकार मंत्र से प्रारंभ करके

चौबीसों तीर्थंकरों के नाम, पंचपरमेष्ठी एवं देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप, सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र, सात तत्त्व, भेदविज्ञान, निमित्त-उपादान कर्मसिद्धांत और क्रमबद्धपर्याय, सर्वज्ञता आदि का सामान्य ज्ञान भी कराया और सदाचारी जीवन जीने की प्रेरणा दी।

इस तरह विज्ञान ने अपने साथियों के सहयोग से उनके जीवन को धार्मिक वातावरण के रंग में रंग दिया।

वातावरण बदलने से उन चारों ही प्राणियों के परिणामों में काफी परिवर्तन हो रहा था, अब अञ्जू और अन्नू का मन आत्म-ग्लानि से भर आया था, वे अपनी भूल पर पश्चाताप तो कर ही रहे थे, साथ ही धर्मलाभ का उन्हें बहुत हर्ष था।

विज्ञान ने उन्हें समझाया – "क्या जीवन भर पश्चाताप ही करते रहोगे ? यदि गल्तियों पर पछताते ही रहोगे तो आत्मा का अनुभव कब करोगे ? पछतावे का महत्त्व उस सीमा तक ही होता है, जबतक हम उन दोषों की दल-दल से बाहर न निकल जायें, अब तो तुम बहुत आगे बढ़ गये हो।

अतः अब तुम भूत को भूल जाओ, भविष्य की भी चिंता छोड़ दो, अब तो तुम केवल वर्तमान को संभालो, भविष्य तो अपने आप संभल जायेगा। अपने आत्मा को जानो, उसे ही अच्छी तरह पहचानो; उसी में समा जाओ, तुम्हें सब पापों से छुटकारा मिल जायेगा और तुम सदा के लिए सुखी हो जाओगे।"

× × ×

विज्ञान के इस धर्मवात्सल्य और निःस्वार्थ सेवा से वे चारों ही प्राणी बहुत ही गद्‌गद थे और पश्चाताप के आंसुओं से अपने पूर्वकृत पापों को धो-धोकर पवित्र हो रहे थे। अब अधिकांश समय उनका आत्म चिंतन और पंचपरमेष्ठी के स्मरण में ही बीतने लगा था। अतः उन्हें न जीवन का अनुराग था और न मरण का भय। वे दोनों अपने साथ अपनी पत्नियों को भी सन्मार्ग में लगा देखकर भारी प्रसन्न थे।

समाधिमरण की भावना मन में संजोये जीवन-मरण से संघर्ष कर मृत्युंजयी बनकर अत्यन्त साम्य भाव से आठ दिन के अन्तराल

ही से अन्नू और अज्जू दोनों अपनी पत्नियों को अकेला छोड़कर दिवंगत हो गये ।

× × ×

वहाँ उपस्थित जन-समूह में से एक वृद्ध ने कहा – "अंत भला सो सब भला । विज्ञान, विद्या और डॉक्टर दम्पत्ति के प्रयासों से उनका अंतिम जीवन भी सुधर गया, मरण बहुत अच्छा हो गया और इलाज में भी कोई कसर नहीं रही, पर जो भूल जीवन में हो गई थी सो तो हो ही गई थी । उसका दुष्परिणाम भी उन्हें भोगना ही पड़ा, वरना अभी उनकी उम्र ही क्या थी, यदि सिगरेट और शराब की आदत न पड़ी होती तो वे असमय में बेमौत नहीं मरते । भगवान ! ऐसी भूल कभी कोई न करे ।"

ऐसा कहते-कहते वह वृद्ध पुरुष अचेत हो जमीन पर गिरपड़ा । वह उसके वियोग को बर्दाश्त नहीं कर पाया; क्योंकि वह और कोई नहीं अज्जू का दादा ही था, जिसने उसे बड़े ही लाड़-प्यार से पाला-पोसा और पढ़ाया-लिखाया था और उसके सहारे ही वह अपने पुत्र-वियोग से हुए गहरे घाव को भर रहा था, जो पोते के वियोग से पुनः हरा-भरा हो गया और वही घाव उसकी मृत्यु का कारण बन गया । □

रागी वन मे जाएगा तो कुटिया बनायेगा, वहाँ भी घर बसायेगा, ग्राम और नगर बसायेगा; भले ही उसका नाम कुछ भी हो, है तो वह घर ही । रागी वन मे भी मन्दिर के नाम पर महल बसायेगा, महलों में भी उपवन बसाएगा । वह वन मे रहकर भी महलों को छोड़ेगा नहीं, महल मे रहकर भी वन को छोड़ेगा नहीं ।..........

..........मित्र रागियो के होते है और शत्रु द्वेषियों के – वीतरागियो का कौन मित्र और कौन शत्रु ? कोई उनसे शत्रुता करो तो करो, मित्रता करो तो करो, उन पर उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है । शत्रु-मित्र के प्रति समभाव का अर्थ ही शत्रु-मित्र का अभाव है ।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ६७

(२३)

संजू के हृदय में पिता के प्रति विद्रोही भावना पनपने के दो प्रमुख कारण थे। एक तो उसके पिता द्वारा उसको योग्य बनाने के लिए आवश्यकता से अधिक सावधानी और कठोर-अनुशासन तथा दूसरा प्रबल कारण था उनका स्वयं का अत्यधिक महात्वाकांक्षी होना।

जहाँ एक ओर वे संजू के बिगड़ने के भय से उसे जेब खर्च भी बहुत ही कस-कस कर देते, वहीं दूसरी ओर अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वे पैसे को पानी की तरह बहाया करते।

कम जेब खर्च मिलने के कारण संजू को अपनी मित्र-मंडली में हीन भावना का अनुभव होता था; क्योंकि उसकी तुलना में कम पैसे वाले राजू आदि मित्र भी उससे कहीं अधिक जेब खर्च पाते थे और दिल खोलकर खर्च किया करते थे।

वैसे देखा जाये तो संजू स्वभाव से इतना बुरा नहीं था, जितना वह परिस्थियों वश बदनाम हो गया था।

वह अपने पिता की स्वयं के प्रति पवित्र भावनाओं को भी पहचानता था और उनकी व्यक्तिगत कमजोरियों को भी जानता था। पर एक तो वह उनसे छोटे मुँह बड़ी बात करे कैसे? और कहने की हिम्मत करे भी तो उसके कहने का उसके पिता पर कोई असर होने वाला नहीं था; क्योंकि वे तो उसे अभी भी नादान ही समझ रहे थे।

बेटा कितना भी बड़ा और समझदार क्यों न हो जावे, पर बाप के लिए तो वह सदैव बच्चा और अक्ल का कच्चा ही नजर आता है। बाप के सामने बेटा और पति के सामने पत्नी भी समझदारी की बात कर सकते हैं – यह बात सेठ सिद्धोमल की समझ के परे थी।

उन्होंने अपने इसी सोच के कारण न संजू की कभी कोई बात सुनी और न अपनी पत्नी की सलाह पर ही कोई ध्यान दिया।

परिणामस्वरूप संजू के हृदय में पिता के प्रति विद्रोह की भावना पनप गई। अब उसे पिता की भली बातें भी बुरी लगने लगीं। मानसिक संतुलन बिगड़ जाने से उसकी सोचने की क्षमता भी घट गई। उसने अपने गम को भुलाने के लिए सुरा का सहारा लिया तो उसके सहचारी अनेक अन्य दुर्व्यसनों ने भी उसे घेर लिया था।

× × ×

परिस्थितियों के झंझावात में उलझने के कारण आवारा बने संजू को सौभाग्य से जब ज्ञान, विज्ञान और सुदर्शन जैसे व्यक्तियों का सत्समागम मिला तो वह अपनी भूल का अहसास करते हुए अपने दुष्कृत्य पर लज्जित तो हुआ ही, उसने पश्चाताप के आंसुओं से अपने पूर्वकृत पापों का प्रक्षालन भी कर डाला और भविष्य में ऐसी भूल कभी न करने का संकल्प भी कर लिया।

इसप्रकार जब उसके दिन फिरे तो उसे सन्मार्ग पर आते देर नहीं लगी और वह रहे-सहे दुर्व्यसनों को दूर करने के प्रयास में लग गया। परिणामस्वरूप प्रौढ़ता की सीढ़ी पर पग रखते-रखते उसमें काफी समझ आ गई थी।

उधर उसके पिता भी सोच रहे थे कि – विज्ञान के बताये गुरुमंत्र के अनुसार उसको सन्मार्ग पर लाने के लिए एक सर्वगुण सम्पन्न, सर्वांग सुन्दर कन्या से उसकी शीघ्र शादी कर दी जाये।

संयोग से सेठ सिद्धोमल मनोवांछित सर्वश्रेष्ठ कन्या के साथ अपने पुत्र संजू की शादी करने में भी सफल हो गये। इस तरह ज्ञान, विज्ञान और सुदर्शन के प्रयासों से और माता-पिता के प्रयत्नों से संजू पुनः अपने घर वापिस आ गया।

संजू की वापसी और योग्य कन्या से उसका विवाह सम्बन्ध हो जाने से उसके माता-पिता तो प्रसन्न हुए ही, नागरिकों और उसकी मित्र-मंडली को भी भारी प्रसन्नता हुई।

सरला एवं सुनीता के सम्पर्क में रहने से संजू के चरित्र के बारे में जो भ्रम खड़े हो गये थे, यथासमय उनका भी निराकरण हो गया।

गलत फहमियों से भी वातावरण कितना विषाक्त हो जाता है। यदि यह जानना हो तो संजू, सरला और सुनीता के चरित्रों से जाना जा सकता है। वे दोनों पूर्ण पवित्र और सदाचारिणी थीं;

पर उन्हें समाज ने संजू को आश्रय देने का कारण पूर्ण दुराचारी मानकर समाज से बहिष्कृत कर दिया था। संजू के पिता सेठ सिद्धोमल ही उन्हें अपमानित और बहिष्कृत करने में अग्रणी थे। वे समाज के सरपंच जो थे। पुत्र मोह ने ही उन्हें अपने सरपच पद का दुरुपयोग करने को विवश कर दिया था। संजू के पथ भ्रष्ट होने में उन्हें सारा दोष सरला व सुनीता का ही नजर आ रहा था। वे क्या करें, मोह की महिमा ही विचित्र है। अस्तु, यदि संजू ने आगे आकर उन्हें अग्नि परीक्षा की कसौटी पर न कसा होता तो बेचारी वे तो बेमौत ही मारी गई थीं।

× × ×

सरला और सुनीता की समस्या सुलझाने के बाद संजू इस अवसर की तलाश में था कि वह धीरे-धीरे अपने पापा को विश्वास में लेकर उन्हें उनकी कमजोरियों का आभास कराये, जिनके कारण वे सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में इतना समय देने एवं धन खर्च करने के बावजूद भी लोगों की दृष्टि में श्रद्धेय नहीं बन पाये, बल्कि लोग उन्हें महत्वाकांक्षी और नाम तथा धन का लोभी ही समझते थे।

लोगों को उनके व्यक्तित्व को समझने में कोरा भ्रम नहीं था, कुछ-कुछ वस्तुस्थिति भी ऐसी ही थी। वे अपने को आवश्यकता से अधिक चतुर और बुद्धिमान समझते भी थे। उन्हें अपने में अपनी कमियों के बजाय विशेषतायें ही अधिक दिखाई देती थी, जबकि सत्य यह है कि मानव को दुनियाँ में कुछ कर दिखाने के लिए अपनी विशेषताएँ नहीं, कमियाँ नजर आनी चाहिए।

हमेशा अपनी कमियों पर और दूसरों की उन विशेषताओं पर विशेष ध्यान दो, जिससे उन्हें यश और सफलता मिली हो। तथा उनकी उन विशेषताओं को अपनी कमियों के स्थान में इस तरह भरो कि वे भद्दे पेबन्द न बनकर दूध में चीनी की तरह घुल जावें — एकमेक हो जावें।

संजू अपने पापा को इसी सत्य के निकट लाना चाहता था। संजू छोटी उम्र में भी अपने जीवन के उतार-चढ़ावों के कारण अधिक अनुभवी हो गया था। और वैसे भी उम्र से समझदारी और बुद्धिमानी का कोई खास सम्बन्ध नहीं है, कम उम्र के व्यक्ति भी

अधिक उम्रवालों से कहीं अधिक समझदार और बुद्धिमान हो सकते हैं।

अतः यदि संजू अपने पिता को सही राह दिखाने की सोच रहा था तो ऐसा कोई अनर्थ नहीं कर रहा था, और वह तो इतना समझदार था कि उसने पहले ही सोच लिया था कि बड़ों का पूरा बड़प्पन और उनको पूरी मान-मर्यादा के साथ विनयपूर्वक ही वह अपनी बात रखेगा। वह उन्हें ऐसा अहसास ही नहीं होने देगा, जो कहने-सुनने में छोटे मुँह बड़ी बड़ी बात सी लगे।

× × ×

अपने इकलौते बेटे संजू को भी सन्मार्ग पर न लगा पाने वाले और अपनी अक्ल की अजीर्णता से उसे घर छोड़ने तक की परिस्थिति में पहुँचा देने वाले सेठ सिद्धोमल ने अपने धन-दौलत की बदौलत समाज का संरक्षक बनकर पूरे समाज को मार्गदर्शन देने का ठेका ले रखा था।

इतना ही नहीं रुपये-पैसों के बलबूते पर वे न्यायपंचायत के सरपंच भी बने बैठे थे। समय-समय पर दान-दक्षिणा देकर और चंदा-चिट्ठा लिखाकर उन्होंने अनेक सामाजिक संस्थाओं, संगठनों और ट्रस्टों के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष और कार्याध्यक्ष जैसे महत्त्वपूर्ण पदों को हथिया लिया था। इन पदों पर पदासीन होने से उन्हें अपने बड़ेपन का भ्रम भी हो गया था।

बेचारे सेठजी को क्या पता कि यह सब तो माया की महिमा है, इसमें अपना क्या बड़प्पन है। 'माया तेरे तीन नाम, परसा परसु परसराम' वाली कहावत उन पर पूर्ण रूपेण घटित होती थी। उन्होंने भी 'सिद्धा, सिद्धो से लेकर सेठ सिद्धोमल' की नाम यात्रा इसी पीढ़ी में पूरी की है।

एक व्यक्ति जब निर्धन था तब लोगे उसे "परसा" कहकर पुकारा करते थे, जब वह कुछ धनवान हुआ तो लोग उसे "परसु" कहने लगे तथा जब वह और अधिक धन सम्पन्न हो गया तो उसे सेठ श्री परसरामजी कहकर पुकारा जाने लगा था।

जब सिद्धोमल बड़े आदमी बन गये तो अब समाज को अपने पक्ष में रखने के लिए एवं समाज में अपना सर्वोच्च स्थान सुरक्षित

रखने के लिए और अपने नाम की प्रसिद्धि के अनुसार समय-समय पर चंदा-चिट्ठा तो लिखाना ही पड़ता था, पर इतने सारे ब्लैकमनी (काले धन) का खर्च कहाँ दिखावें ? एक यह समस्या भी तो उनके सामने रहा करती थी।

एतदर्थ उन्होंने अपने पूर्वजों के नामों पर ऐसे अनेक छोटे-मोटे ट्रस्ट बना रखे थे, जिनके माध्यम से वे अपनी अवैध सम्पत्ति को वैध एवं सुरक्षित करके अपने कुटुम्ब परिवार के हित में उसका मनमाने ढंग से सदुयोग कर सकें और चन्दा-चिट्ठा भी दे सकें।

समय-समय पर मुखर नेताओं, शासकीय अधिकारियों और कर्मचारियों तथा पत्र-पत्रिकाओं को चन्दा-चिट्ठा या उपहारों के नाम पर मुँह मांगा धन देकर उनका मुंह बंद रख सकें और समय-समय पर समारोहों में उच्चासन पर सुशोभित होकर सम्मान पा सकें। इन सब के लिए निजी ट्रस्ट बनाना भी बहुत जरूरी होता है, क्योंकि इन ट्रस्टों की भट्टी में तप कर ही तो काला धन सफ़ेद हो सकता है न ? तथा यदि सामाजिक ट्रस्टों के पदों पर आसीन न हो पाये तो उन ट्रस्टों की धनराशि का सदुपयोग अपने ढंग से कैसे कर सकेंगे ? अतः उन पदों की सुरक्षा भी आवश्यक है।

सेठ सिद्धोमल इन सब कामों में सिद्ध हस्त थे। वे हमेशा यह गणित लगाया करते थे कि कब/कहाँ/किस प्रयोजन से पहुँचना है ? अतः कभी व्यापारिक कार्यों के नाम तो कभी सामाजिक मीटिंगों के नाम पर अपने दौरों के यात्रा भत्ते बना लिया करते थे।

× × ×

इन सबके के कारण सेठ सिद्धोमल आवश्यकता से अधिक व्यस्त दिखाई देते थे। अतः कोई उनसे यह कहने की हिम्मत ही नहीं कर पाता था कि वे कुछ समय शांति से एक जगह ठहर कर धर्मलाभ लें, नियमित स्वाध्याय करें और अपनी जिंदगी के अमूल्य क्षणों को सार्थक कर लें।

धर्म के नाम पर तो वे केवल धार्मिक मंचों के किसी विशिष्ट पद पर पदासीन होकर अपना भीषण-भाषण देकर और यथायोग्य दान की घोषणा भर करते रहते थे। वहाँ भी विद्वानों की दो अच्छी बातें सुनने का सुयोग उन्हें नहीं मिल पाता था; क्योंकि बड़े

राजनेताओं की तरह यदि कार्य व्यस्तता बताकर बीच में ही न उठ जावें तो वे भी बड़े नेता कैसे कहलायेंगे ? अब तो वे बीमार भी रहने लगे थे, अतः अब उनसे अधिक दौड़-धूप भी संभव नहीं थी। भले ही प्लेन की यात्रा ही क्यों न हो, पर थकान तो उसमें भी होती ही है। अतः डॉक्टर उन्हें अधिक यात्रा की परमीशन नहीं देते थे।

संजू की चिन्ता का यही मुख्य विषय था। वह चाहता था कि एक तो उनकी यह दौड़-धूप कम हो और दूसरे उनको अनावश्यक तनाव जो संस्थाओं की उपाधियों के कारण होता है, वह कम हो। तीसरे, वे एक जगह रहकर शांति से स्वाध्याय करें, तत्वाभ्यास करें तो धीरे-धीरे उनकी तनावजनित बीमारी भी ठीक होगी और उनकी ये महत्वाकांक्षाएँ भी अपने आप कम हो जायेंगी।

इसके लिए उसने अपने मित्र प्रो० ज्ञान, विज्ञान और सुदर्शन से कहा कि वे लोग ही कोई ऐसा रास्ता निकाले, उपाय खोजे जिससे उसके पिताजी स्वाध्याय एवं तत्वाभ्यास में रुचि लेने लगे। वे चाहें तो डॉ० धर्मचन्द और राजू से भी सहयोग ले लें।

× × ×

बड़े आदमियों को आमतौर पर जो बड़ी-बड़ी व्याधियों और उपाधियाँ होती हैं, सेठ सिद्धोमल भी उसके अपवाद नहीं थे; उन्हें भी लगभग सभी आधियाँ-व्याधियाँ और उपाधियाँ थीं; क्योंकि उन्होंने ने भी तो वे सब मुसीबतें मोल ले रखी थी, जो आमतौर पर सब श्रीमंतों को घेरे रहती हैं।

यद्यपि उनके सौभाग्य से उन्हें धन-दौलत कमाने की बिल्कुल ही चिन्ता नहीं थी, क्योंकि उनके पास अटूट-असीमित चल-अचल सम्पत्ति थी, जिसके ब्याज और भाड़े से ही लाखों रुपयों की आय थी; पर प्राणी की इच्छाओं की भी तो सीमा नहीं है। उन्हें पैसे कमाने की चिन्ता नहीं थी तो वे नाम कमाने और यश-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के चक्कर में पड़ गये। इस कारण वे सामाजिक राजनीति और धार्मिक संस्थाओं की नेतागिरी में ही उलझे रहते थे।

जगह-जगह का प्रदूषित पानी और टाइम-बे-टाइम खाना तथा दो-दो बजे रात तक जागना। पूर्ण अनियमित दिनचर्या; न कोई खाने-पीने और सोने का निश्चित समय और न विश्राम का ठिकाना।

कोई कितना भी लोह पुरुष क्यों न हो, आखिर इसतरह वह कब-तक स्वस्थ रह सकता है ? शरीर तो आखिर शरीर ही है, वह कभी न कभी तो शिथिल होगा ही और फिर तनाव से होने वाले रोगों की तो बात ही जुदी है।

वैसे भी आचार्यों ने जहाँ आत्मा को ज्ञानमन्दिर कहा है वहीं शरीर को व्याधि मन्दिर भी कहा है और कहा है कि शरीर के एक-एक रोम में छियावनवे-छियावनवे रोग रहते हैं, जिनका इन प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रकुपित हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः ऐसी प्रतिकूलताओं से जितना बचा जा सके, बचना चाहिए। पर सेठ सिद्धोमल ने ऐसा कुछ नहीं किया।

तनाव से मुक्त रहने और आत्म शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय जो स्वाध्याय, तत्वाभ्यास और चिन्तन मनन हैं, सो उसमें उनका मन लगता नहीं था। मन को दोष देना भी व्यर्थ है, क्योंकि उन्होंने मन स्वाध्याय में और धर्म-ध्यान में लगाने का कभी प्रयत्न भी तो नहीं किया।

कोई भी काम क्यों न हो ? तत्वाभ्यास के अभाव में तनाव तो होता ही है। सेठ सिद्धोमल आजकल मानसिक तनाव में ही जी रहे थे, इस कारण वे उच्च रक्तचाप से पीड़ित तो थे ही, एक बार मस्तिक ज्वर जैसे भयंकर रोग का आक्रमण भी उन पर हो गया।

यह खबर नगर में करेन्ट की तरह फैल गई। ज्यों ही ज्ञान, विज्ञान और सुदर्शन को ज्ञात हुआ कि आज संजू के पापा को मस्तिष्क ज्वर हो गया है और डॉक्टरों ने उन्हें सम्पूर्ण बेड-रेस्ट की सलाह दी है तो ये सभी डॉक्टर धर्मचन्द को लेकर उनके यहाँ पहुंचे। डॉक्टर धर्मचन्द प्रसिद्ध फिजीशियन तो थे ही, धर्मात्मा और धर्ममर्मज्ञ भी थे अतः उन्होंने रोग की चिकित्सा का सत्यपरामर्श तो दिया ही, साथ में उन्हें संसार शरीर और भोगों की क्षण भंगुरता का भान भी कराया। और सब सामाजिक और राजनैतिक झंझटों से मुक्त होकर केवल धर्माराधना करने की सलाह दी।

वैराग्यमय वातावरण बनाते हुए ज्ञान, विज्ञान और सुदर्शन ने भी उन्हें मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने को प्रोत्साहित किया।

कह नहीं सकते सेठ सिद्धोमल ने उस विकट परिस्थिति में कितना क्या ग्रहण कर पाया, पर देखते ही देखते उन्हें ब्रेन हेमरेज हो गया। और वे ऐसे अचेत (बे-होश) हुए कि पुनः होश में आये ही नहीं।

उनके आँख से झरती अश्रुधारा केवल यह बता रही थी कि शायद उन्हें अपनी अमूल्य मनुष्य पर्याय निष्फल खोने का भारी पश्चाताप हो रहा है। उनका तो जो हुआ सो हुआ, पर उनके इस दुखद निधन से दर्शकों के हृदय अवश्य दहल गये। फलतः सभी ने अपने शेष जीवन को स्वाध्याय और संयम से सार्थक करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। □

यदि आपको इस जगत का उतावलापन देखना है तो किसी भी नगर के व्यस्त चौराहे पर खड़े हो जाइये और देखिये इस दुनिया का उतावलापन। चौराहे पर मौत की निशानी लालबत्ती है, एक सिपाही भी खड़ा है आपको रोकने के लिये, फिर भी आप नहीं रुक रहे हैं; अपनी मौत की कीमत पर भी नहीं रुक रहे है। यद्यपि आप अच्छी तरह जानते हैं कि लालबत्ती होने पर सड़क पार करना खतरे से खाली नहीं, कभी भी किसी भारी वाहन के नीचे आ सकते हैं, पुलिस वाला भी आपको सचेत कर रहा है, फिर भी आप दौड़े जा रहे हैं। क्या यह उतावलेपन की हद नहीं है? इतनी भी जल्दी किस काम की? पर ऐसा उतावलापन कहीं भी देखा जा सकता है।

क्या यह देश का दुर्भाग्य नही है कि आप अपने उतावलेपन के कारण लालबत्ती होने पर भी किसी वाहन के नीचे आकर मर न जावें – मात्र इसलिये लाखो पुलिसमैनों को चौराहों पर खड़ा रहना पड़ता है।

अपनी मौत की भी कीमत पर जिनको इतनी भी देरी स्वीकृत नहीं, पसद नही; ऐसे अधीरिया – उतावले लोगों की समझ में यह कैसे आ सकता है कि जो कार्य जब होना होगा, तभी होगा।

– क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ ६४

(२४)

एक ओर तो प्राणप्रिय पतिदेव के चिर-वियोग जनित असीम विरह वेदना, दूसरी ओर वैधव्य जीवन की सहगामी असंख्य संभावित-असंभावित विपत्तियों-आपत्तियों के कष्ट-कंटकों से भरी पहाड़ सी जिन्दगी। एक असहाय विधवा के लिए कितना दुःखद प्रसंग होता है यह ? क्या इसकी कोई कल्पना भी कर सकता है ?

नई उम्र की विधवाओं को आये दिन नई-नई समस्याओं का सामना करना पड़ता है सो अलग। वे बात-बात में संदेह की दृष्टि से ही देखी जाती हैं। न वे किसी को आँख उठाकर देख सकती है, न कोई उन्हें। न वे किसी से सहयोग ले सकती हैं और न किसी को सहयोग दे सकती हैं, जहाँ हंसी वहीं फंसी। अतः जीवनभर सहज होने का तो काम ही नहीं। जिन्दगी भर तनाव में जीना ही उनका जीवन है। कदम-कदम पर असुरक्षा, जहाँ जिसका सहारा लेने की सोचें, सबसे पहले वही इज्जत लूटने को आमादा। भले ही वह रिस्ते में कुछ भी लगती हो, और उम्र में भी बहू-बेटी के बराबर ही क्यों न हो ? न रिस्तों की परवाह न उम्र का लिहाज ! भूखे-भेड़ियों की तरह चौबीसों घंटे इसी ताक में रहते हैं कि कहीं किसी तरह चंगुल में फंस जाय। अपने शील की सुरक्षा का कहीं कोई साधन नहीं; सदा सशंक जीवन।

ऐसी स्थिति में कोई लज्जाशील नारी शांति से रहना भी चाहे तो कैसे रहे ? कोई कितने भी फूंक-फूंक कर कदम रखे, कैसे भी बच-बच कर क्यों न चले, तो भी अफवाहों की शिकार हुए बिना न रहे। शुभ प्रसंगों पर उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है सो अलग। इन सब परिस्थितियों के कारण उसे अपनी मनःस्थिति को सामान्य रख पाना तलवार की धार पर चलने जैसा कठिन काम है।

यही सब सरला और सुनीता के चिंता के विषय थे। वे सोचतीं थीं कि इन सब समस्याओं का सामना हम कर भी सकेंगी या नहीं ?

यदि अन्य कोई आलम्बन हो, तब भी कोई राहत मिल सकती है, पर उन दोनों के आगे-पीछे भी कोई नहीं था। सास-ससुर का तो उन्होंने मुँह भी नहीं देखा था। वे तो रेल (ट्रेन) दुर्घटना में पहले ही स्वर्गवासी हो गये थे, संतानें अभी हुई नहीं थीं। बिल्कुल एकाकी शून्य जीवन था उनका।

भले ही उनके पति लम्बी बीमारी के कारण कुछ कमाई नहीं कर पा रहे थे, पर उनका साया उनके सिर पर होने से उनमें मनोबल था, उन्हें अपने सौभाग्यवती होने का गौरव था और परिस्थितियों से जूझने का साहस था। यद्यपि उनके पतियों की असाध्य बीमारी के कारण वे निराश थीं, पर किसी तरह गृहस्थी की गाड़ी तो खिच ही रही थी; परन्तु उनके निधन से तो उनकी रही-सही हिम्मत का जनाजा ही निकल गया था। अब वे अपने को बहुत ही असहाय और दीन-हीन अनुभव कर रही थीं।

यद्यपि विद्या, विज्ञान और डॉक्टर दम्पति जैसे सज्जन और उदार व्यक्ति उन्हें काफी ढाढ़स बंधा रहे थे, पर वे अभी किंकर्तव्य विमूढ़ थीं। उनकी आँखों के आगे घनघोर अंधकार ही अंधकार छाया हुआ था। जीने के लिए कहीं भी कोई आशा की किरण दिखाई नहीं दे रही थी। उनका बार-बार मूर्छित हो जाना यह बता रहा था, मानों वे सदैव के लिए मूर्छित ही हो जाना चाहतीं हैं, मर ही जाना चाहतीं हैं।

वे सोच रही थीं अब जीवित रहकर करें तो करें भी क्या ?

नारी के जीवन में उत्साह पूर्वक जीने के दो ही तो प्रमुख कारण होते हैं – एक पति और दूसरे पुत्र-पुत्रियाँ, जिनके लिए वह अनेक कष्ट सहकर भी समर्पित रहती हैं। उनके आगे-पीछे अब कोई नहीं था; अतः वे पूरी तरह निराश हो चुकी थीं।

× × ×

पति कैसा भी क्यों न हो, पर पति तो आखिर पति ही होता है। वह भी भारतीय नारी का। भारतीय संस्कृति में तो वैसे भी

पति को परमेश्वर कहा जाता रहा है; न केवल कहा जाता है, माना भी जाता है। अतः पत्नियाँ अपने पतियों के प्रति पूर्ण समर्पित रहतीं हैं।

सरला और सुनीता के पति भी उनके लिए परमेश्वर तुल्य ही थे। उनके दुर्व्यसनों को वे परमेश्वर के द्वारा ली जा रही अपनी परीक्षा ही मान रहीं थीं। अतः उनकी बीमारी में उन्होंने उनके लिए क्या-क्या नहीं किया ? लोकनिंदा की भी परवाह न करते हुए बचपन में प्राप्त अपनी नृत्यकला और संगीतकला द्वारा मित्रों का मनोरंजन करके भी आजीविका चलाई और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की। उन्होंने कभी भी अपने पतियों का न अनादर किया और न किसी से उनका अनादर होने दिया।

जिन परिस्थितियों में वे जी रही थीं और जिन लोगों से वे घिरीं थीं, उन परिस्थितियों में कोई भी व्यक्ति कभी भी भटक सकता था, पथभ्रष्ट हो सकता था; पर वे कीचड़ में कंचन की भांति निर्लिप्त रही। रावण के घर में रही सती-सीता की भांति उन्होंने अपने सतीत्व को सम्पूर्णतः सुरक्षित रखा।

पर आरोप लगाकर बदनाम करने वाले धोबियों की तो न तब कमी थी,न अब; सो जो जिसके मुँह में आया इनके बारे में भी खूब कहा।

× × ×

यद्यपि होस्टल में पढ़ते समय एक बार संजू सुनीता की ओर आकर्षित हुआ था, और उस की सहज मंद-मंद मुस्कान से भ्रमित होकर, उसके हंसने को प्रेम का संकेत समझकर, मिलने का आमंत्रण मानकर, प्रेमान्ध हो गर्ल्स होस्टल के बेकडोर से घुस कर सुनीता से मिलने की कोशिश में वहाँ की लड़कियों द्वारा कच्चे चोर की तरह पकड़ लिया गया था, घेर लिया गया था। उसे तभी तत्काल अपनी भूल का अहसास भी हो गया था कि-वह तो उसकी नादानी पर मुस्कुराई थी।

यद्यपि सुनीता की वह मुस्कुराहट उस समय संजू को मंहगी पड़ी थी, पर उस घटना से उसने बहुत बड़ा सबक सीख लिया था। तब से वह कभी किसी लड़की के चक्कर में नहीं पड़ा था।

संजू को इसप्रकार का कोई शौक भी नहीं था। उसकी आवश्यकता तो केवल उसके पिता के कारण उत्पन्न हुई प्रतिकूलता का गम भुलाने के लिए शराब और समय बिताने को मनोरंजन के लिए नृत्य – नौटंकी देखना, संगीत सुनना तथा यदा-कदा रमी आदि खेलने तक ही सीमित था, पर लोग तो उसे आवारा और सुनीता के प्रेम में पागल समझ ही बैठे थे।

× × ×

यद्यपि सरला और सुनीता महासती सीता की भाँति पूर्ण पवित्र थीं, उनका दामन सदा बेदाग रहा। जिसतरह रावण के यहाँ रहने से निर्दोष सीता को भी दोषी मान लिया गया था, यही परिस्थिति संजू के साथ घटी होस्टल की घटना से सरला व सुनीता के साथ बन गई थी।

घरों से निष्कासित और प्रताड़ित संजू और राजू को जब कहीं कोई अवलम्बन नहीं दिखा तो वे अपने पुराने मित्र और सहपाठी अन्नू और अज्जू के घर पहुँच गये थे।

उन्हें मालूम था कि उन दोनों ने पढ़ाई छोड़ दी है तथा उनकी शादियाँ भी उन्हीं संगीत और नृत्य में निपुण सुनीता और सरला से हो गई हैं। पहले तो वे उनसे मिलने को कतराते भी रहे; क्योंकि संजू को रह-रह कर होस्टल की घटना याद आ जाया करती थी; पर अब तो उन्होंने मन पर पत्थर रखकर हिम्मत कर ही ली।

उन्होंने सोचा – चलो चलकर अपनी भूल की क्षमायाचना भी कर लेंगे और अपनी पूज्या भाभियों से मिलकर उन्हें वैवाहिक जीवन की बधाई भी दे देंगे।

उन्हें क्या पता था कि हमारा उनसे मिलना उनके लिए अभिशाप भी बन सकता है। यद्यपि उनके मन में कोई पाप नहीं था, पर पापियों का पाप तो प्रगट हुए बिना नहीं रहता। जो जैसे होते हैं, वे सारी दुनिया को सदैव अपने चश्मे से ही देखते हैं।

दुनिया का भी क्या दोष ? 'दूध कलारिन हाथ लखि मद समुझै सब ताहि।' मदिरा बेचने वाली कलारिन के हाथ में भले आज

दूध हो, पर दुनिया तो उस दूध को भी मदिरा ही समझती है न ? उसे क्या पता कि अब उसकी मटकी में मदिरा नहीं, दूध है ।

× × ×

यद्यपि सुनीता के कौमार्य काल में संजू का झुकाव सुनीता की ओर था । वह उसके रूप-लावण्य और नृत्य-संगीत की कला पर समर्पित था । कॉलेज के समय जब वह वार्षिकोत्सव में संगीत व नृत्य के प्रति सुन्दर आकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत करती थी तो पूरा हाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज जाता था ।

पर वह उसी कॉलेज के एक साधारण क्लर्क की कन्या थी, अतः उसके पिता को जहाँ एक ओर अपनी बेटी की सफलता पर गर्व था, वहीं वह सदा सशंकित भी बना रहता था कि कहीं-कोई उसकी बेटी की ओर आकर्षित होकर मेरे लिए सिरदर्द न बन जाये ?

जब से होस्टल की घटना उसके कान में पड़ी, तब से वह और भी अधिक चौकन्ना हो गया था । अब तो वह जल्दी से जल्दी अपनी बेटी के पीले हाथ करने की चिन्ता में हो गया था ।

अज्जू उसी के मित्र का लड़का था, मित्र की मृत्यु एक ट्रेन दुर्घटना में हो गई थी, जाना-पहचाना होने से और देखने-दिखाने में आकर्षक व्यक्तित्व होने से अज्जू सुनीता के पिता को पसंद था तथा अच्छा खिलाड़ी होने के कारण सुनीता का भी उसके प्रति सहज आकर्षण था । अतः सुनीता की मर्जी से ही उसके पिता द्वारा सुनीता का विवाह अज्जू के साथ कर दिया गया ।

अज्जू का मन पढ़ने में कम और खेलों में अधिक होने से वह अधिक नहीं पढ़ सका था और धंधे में नुकसान हो जाने से अब केवल मेहनत-मजदूरी ही उसके हाथ रह गई थी ।

× × ×

अन्नू भी इसी रुचि का था । उसके भाग्य ने पूरी तरह साथ नहीं दिया । वह ग्रेजुएट होकर भी बेकारी का शिकार बना रहा । थर्ड क्लास जो था । आजकल थर्ड क्लास पास होना तो फेल हो जाने से भी बदतर है ।

वह नौकरी तलाशते-तलाशते जब परेशान हो गया और कहीं कोई ढंग की नौकरी नहीं मिली तो वह भी 'वर्क इज़ वर्शिप' को याद करके मेहनत-मजदूरी करने लगा।

भले ही मेहनत-मजदूरी को लोग हल्का काम समझते हैं, इज्जत की दृष्टि से नहीं देखते; पर मेहनत-मजदूरी पराई गुलामी से तो लाखगुणी अच्छी ही है।

बस यही सोचकर अपने मन को समझा-बुझाकर वे दोनों अपनी आजीविका आराम से कर रहे थे, पर दुर्दैव को यह भी रास नहीं आया।

जब सुनीता और सरला ने अन्नू और अज्जू के कहने पर अपने पतियों के पुराने मित्रों के नाते संजू और राजू को अपने घर में आश्रय दिया; तब तो वे कुछ समझ न सकीं कि इनको आश्रय देने का परिणाम इतना दुःखद हो सकता है। और जब समझ में आया तब तक बात बहुत आगे बढ़ चुकी थी, पानी सिर पर से गुजर चुका था। अतः अब उनका हटाना संभव नहीं रहा।

संजू और राजू के साथ रहने से अज्जू और अन्नू को भी सिगरेट और शराब पीने की आदत पड़ गई। पहले तो वे होली-दिवाली यदा-कदा शौकिया पिया करते थे, पर अब तो रोज-रोज पीने-पिलाने से व्यसन बन गया था, अतः अब पिये बिना चैन नहीं पड़ती थी। इस कारण अब उन्हें अलग-अलग करना आसान काम नहीं था।

ये दुर्व्यसन सेवन करने वाले अपने सगे माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र और पत्नी का साथ भले ही छोड़ दें, पर दमभाई का साथ नहीं छोड़ सकते। एकसाथ बैठकर गाँजा-चरस, बीड़ी-तम्बाकू, भंग और मदिरापान करने वाले दमभाई के आगे सगे भाई की इन्हें कोई कीमत नहीं होती।

यद्यपि संजू व राजू का साथ सुनीता व सरला को ही सबसे अधिक मंहगा पड़ा; क्योंकि एक तो उनके पति इनके साथ अधिक मात्रा में शराब और सिगरेट पीने से ही मौत के शिकार हुए। दूसरे इनके सम्पर्क में रहने से उनकी बदनामी हुई, सो अलग। पर वे करें तो करें भी क्या?

पहले संजू और राजू इनकी शरण में आये और बाद में अन्नू और अज्जू उनके अनुराग में ऐसे फंसे कि अब ये स्वयं उनको छोड़ने की स्थिति में नहीं रहे। अतः सुनीता एवं सरला न चाहते हुए भी अपने पतियों को अन्नू और अज्जू से जीते जी अलग नहीं कर सकीं।

× × ×

संजू और राजू को दिन-रात सुनीता व सरला के घर आते-जाते, रात-रात भर गपशप लगाते, तथा खाते-पीते और वहीं उठते-बैठते एवं सोते देखकर समाज की नजरों में ये दोनों तो दुराचारी बन ही गये, साथ में सुनीता और सरला भी इनकी वजह से बिना कारण बदनाम हो गईं।

समाज क्या जाने इनके अंतरंग को; पर ध्यान रहे – बाप बेटे को धोखा दे सकता है, बेटा बाप को चकमा दे सकता है, पति पत्नी से झूठ बोल सकता है, पत्नी पति से कुछ छुपा सकती है, पर चोर चोर से कुछ भी छुपाता नहीं है, डाकू डाकू को कभी धोखा देता नहीं है, जुआरी जुआरी के साथ कभी बेईमानी करता नहीं है, यह सूरज और चांद की तरह अटल सत्य है।

इसी तथ्य के आधार पर छाती ठोक कर यह कहा जा सकता था कि संजू और राजू का व्यवहार सरला और सुनीता के साथ भाई-बहिन के पवित्र प्रेम की तरह था। उन्होंने कभी भी उन्हें बुरी निगाह से देखा तक नहीं था; क्योंकि अब वे उनकी प्रेमिकायें नहीं, बल्कि मित्रों की पत्नियाँ जो थीं।

पर, समाज को कौन समझाये कि ये पवित्र हैं और समाज भी ऐसे कैसे मानता कि इन्होंने ऐसा कोई पाप नहीं किया। समाज का सोचना एक अपेक्षा से सच भी है; क्योंकि काजल की कोठरी में रहकर कोई उसके दाग से कैसे बच सकता है?

पर वे भी क्या करें? उनके पास सीता सती जैसा कोई अग्नि-परीक्षा देने का उपाय भी तो नहीं है। वे सीताजी जैसा साहस कर भी नहीं सकती थीं; क्योंकि संभव है सीताजी जैसी पवित्रता होने पर भी सीताजी जैसा पुण्य उनके पास न हो और अग्नि का जल

पवित्रता से नहीं पुण्य से होता है, अन्यथा पवित्रता तो पाँचों पांडवों के भी कम नहीं थी ।

पाँचों ही पाण्डव पंच महाव्रत के धारी थे, जिनमें तीन तो तद्भव मोक्षगामी भी थे । उनको भी अग्नि से तप्त लाल-लाल दहकते लोहे के गहने पहना दिए गये थे । समझ लो कि उनके पास सीता जैसा पुण्य नहीं था, पवित्रता तो सीता से भी अनंतगुणी अधिक थी । इसके सिवाय और कोई उपाय था नहीं । अतः चुपचाप बदनामी सहने में ही उन्हें सार दिखाई दिया ।

पर, समाज भी तो आखिर समाज ही है, वह कब पीछे रहने वाला था । अन्नू और अज्जू के दिवंगत होने पर जैसे-जैसे ज्ञान, विज्ञान और विद्या ने उन्हें सन्मार्ग में लगाकर शान्ति से धर्म साधन करते हुए गौरव से जीने को तैयार किया, वैसे-वैसे ही समाज ने उनका विरोध करना प्रारंभ कर दिया । उनका बहिष्कार करने तक की योजना बन गई ।

औरत औरत की जितनी बड़ी शत्रु होती है, शायद उतना बड़ा शत्रु उसका और कोई नहीं हो सकता ।

औरतों की ओर से काना-फूसी शुरू हो गई – 'साँच को आँच कहाँ ।' यदि सती है तो हाथ में आग के अंगारे लेकर दिखाये । अपने आप दूध का दूध और पानी का पानी हो जायेगा ।

समाज के संरक्षक सेठ सिद्धोमल भी औरतों का रुख देखकर उनकी हाँ में हाँ भरने लगे । उन्हें उधर झुकता देख समाज के अध्यक्ष, मंत्री आदि पदाधिकारियों का मत भी उन्हें ही मिल गया ।

इस तरह एक ऐसा माहौल बन गया, मानों अग्नि परीक्षा दिए बिना समाज में उनका जिन्दा रहना असंभव हो जायगा ।

संजू और राजू भी यह सब तमाशा देख रहे थे । यद्यपि संजू भी सामाजिक नेताओं के तीर का निशाना बन सकता था, पर बड़े बाप का बेटा होने से उसकी तरफ उंगली उठाने की किसी की हिंम्मत नहीं हो रही थी ।

संजू से चुप नहीं रहा गया, अतः वह समाज के सामने आता हुआ बोला – "चलो हमें मंजूर है सुनीता और सरला की अग्नि परीक्षा। और उन्हें दोषी बनाने में उनसे भी कहीं अधिक हमारा दोष है। अतः उनसे पहले हम भी अपनी अग्नि परीक्षा देंगे।"

यह सुनते ही संजू के पिता सेठ सिद्धोमल घबड़ाये। अब उन्होंने पैंतरा बदलने की कोशिश की; पर संजू ऐसा अड़ा कि पलटने का नाम ही न ले। अब सबकी बोलती बंद। पर संजू ने पुनः घोषणा की कि कल इसी समय यहीं पर अग्नि परीक्षा का कार्यक्रम होगा।

रात भर हलचल मची रही, इस कार्यक्रम के निरस्त करने की नाना योजनायें बनती रहीं। सरला व सुनीता की हर बात मानने को समाज राजी हो गया, पर संजू और राजू अपनी बात पर अड़े रहे।

उनका कहना था कि जब वे पूर्ण पवित्र हैं, तो वे किसी की कृपा पात्र क्यों बनें? जीवन भर औरतों द्वारा टीका-टिप्पणी की निशाना क्यों बनी रहें? एक बार अग्नि परीक्षा में खरी उतर कर क्यों न समाज में गौरव से और इज्जत से रहें? अतः उन्होंने किसी की कोई बात नहीं मानी।

अन्ततोगत्वा, सवेरा होने पर अग्नि परीक्षा की तैयारियाँ प्रारंभ हुईं। अग्नि की भट्टी जला दी गई; पर सीता की अग्नि परीक्षा से इस अग्नि परीक्षा की कार्यशैली में थोड़ा सुधार हो गया था, सीताजी को तो अग्निकुण्ड में प्रवेश करना पड़ा था, पर यहाँ आग के अंगारों को केवल हाथों में लेना था, ताकि पापी का पाप तो खुल जाये और जान जोखिम में न पड़े। काश! उस जमाने में भी कोई ऐसा ही उपाय सोच लेता तो……। खैर!

जब पूरी तैयारी हो चुकी और सभी समाज एकत्रित हो गया तो संजू ने कहा समाज के संरक्षक, अध्यक्ष, महामंत्री और मंत्री चारों व्यक्ति सामने आवें और क्रम-क्रम से इन अंगारों को अपने हाथ से उठा-उठाकर हम चारों के हाथों पर रखें।

सभी एक-दूसरे का मुँह ताक रहे थे, कोई भी आगे आने को तैयार नहीं था।

एक ने कहा – "हाथ से अंगारे उठाकर………… ?"

दूसरे ने कहा – "ठीक ही तो है, पाप तो उन्होंने किया है, पंचों ने थोड़े ही किया है, जलेंगे तो वे जलेंगे, पंच क्यों जलेंगे ?"

जब देखा कि कोई भी आगे नहीं आ रहा, सभी मुँह लटकाये खड़े हैं, तब फिर संजू ने जोर-जोर से चिल्ला कर कहा – "छोड़ो संरक्षक, अध्यक्ष और मंत्री-महामंत्री आदि पंचों को। समाज में से जो भी आना चाहे, आगे आवे और हमारे हाथों पर अपने पवित्र हाथों से आग के अंगारे रखकर हमारी परीक्षा ले ले।

सभी एक-दूसरे का मुँह देख रहे थे, कोई भी आगे नहीं आया। इस तरह संजू की बुद्धिमानी से सुनीता और सरला बिना अग्नि परीक्षा दिए ही पवित्र सिद्ध हो गयीं।

× × ×

अब तक सुनीता और सरला सम्पूर्ण रूप से सामान्य हो चुकी थीं और उनमें जीने के प्रति नया उत्साह का संचार हो गया था। अब उनकी अन्तिम मंजिल केवल स्त्री धर्म निभाने तक ही सीमित नहीं रही थी, अब उन्हें मोक्ष की मंजिल तक पहुँचने की तैयारी करनी थी।

उन्हें समझ में आ गया था कि मृत्यु के उपरांत ही अपनी जीवन यात्रा समाप्त नहीं हो जाती। यदि स्वर्गीय पतिदेव की मोह-ममता में पड़कर उन्हें ही दिन-रात स्मरण कर-कर के आर्त ध्यान करती रहीं तो इससे उनको तो कोई लाभ होगा नहीं, अपना ही भविष्य अंधकारमय बन जायेगा। और न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरों तक ये जन्म-मरण, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, संयोग-वियोग के अनंत दुःख भोगने पड़ेंगे। अतः दैवयोग से जब ऐसा बनाव बन ही गया है तो क्यों न अब अपने इस शेष जीवन को स्व-पर कल्याण में समर्पित कर दिया जाय ?

दिल बहलाने वालीं, रोमांचित करने वालीं, बड़ी-बड़ी अवि-स्मरणीय घटनाएँ घट जाती हैं, पर धीरे-धीरे वे भी काल कवलित हो जातीं हैं, काल के गाल में समा जाती हैं, समय सबको अपने में समा लेता है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वे सहज होती गई थीं; फिर उन्हें ज्ञान और विज्ञान से सहयोग से तत्त्वज्ञान का संबल भी मिल गया था। अब उनके सामने वर्तमान पर्याय के क्षणिक वैधव्य दुःख की तुलना में अनन्त भविष्य का अपार संसार सागर पार करने का कार्य महत्त्वपूर्ण लगने लगा था। अतः अब उन्होंने वर्तमान दुःख को गौण करके उसी महायात्रा की तैयारी में जुट जाने का मानस बना लिया।

एक दिन सुदर्शन, ज्ञान, विज्ञान एवं विद्या ने परस्पर विचार करके यह निर्णय किया कि जिनवाणी के प्रचार-प्रसार की कोई ऐसी ठोस योजना बनाई जावे, जिससे घर-घर में जिनवाणी पहुँचाई जा सके और घट-घट में बिठाई जा सके।

इसके लिए डॉक्टर दम्पत्ति तो सम्पूर्णतः निःस्वार्थ भाव से समर्पित हैं ही, संजू और राजू का पूरा-पूरा सहयोग भी हमें मिल ही जायेगा। सुनीता और सरला को भी अब इसी काम में प्रशिक्षित कर लिया जावे, ताकि उनकी संगीत कला का भरपूर सदुपयोग इस दिशा में हो सके, एतदर्थ इन सबकी एक मीटिंग अगले रविवार को बुलाई जावे। इस निर्णय के साथ सब अपने-अपने घर चले गये। □

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि युवकों मे जोश और प्रौढो मे होश की प्रधानता होती है। युवकों मे जितना जोश होता है, कुछ कर गुजरने की तमन्ना होती है, उतना अनुभव नही होता। इसीप्रकार प्रौढो मे जितना अनुभव होता है, उतना जोश नही।

कोई भी कार्य सही और सफलता के साथ सम्पन्न करने के लिए जोश और होश – दोनो की ही आवश्यकता होती है। अतः देश व समाज को दोनो की ही आवश्यकता है। ये दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

– **जोश एवं होश नामक निबन्ध से**

(२५)

प्रो० ज्ञान ने एक दिन विचार किया कि – शुभ काम में देर क्यों ? शुभ काम तो जितना जल्दी सभव हो सके, प्रारम्भ हो जाना चाहिए। ज्यों-ज्यों जल्दी करने की सोचते हैं, त्यों-त्यों देर हो रही है। एक-एक करके तीन रविवार तो बातों-बातों में यों ही निकल गये। कभी किसी के यहाँ शादी है तो कभी किसी का स्वास्थ्य ठीक नहीं, कभी किसी को जरूरी काम से बाहर जाना है तो कभी किसी के घर में मेहमान आ गये।

किसी मनीषी ने ठीक ही कहा है कि – 'शुभ कामों में विघ्न-बाधायें कुछ अधिक ही आती हैं।' अस्तु अब तक तो जो हुआ सो हुआ, पर अब इस काम के लिए विशेष सक्रिय होकर आगे आना पड़ेगा और किसी की प्रतीक्षा किए बिना ही काम का शुभारम्भ कर देना होगा, तभी कुछ बात बन सकेगी। समाज को इकट्ठा करना मेंढ़क तौलने से कम कठिन नहीं है। जबतक एक को तराजू पर बिठाओ, तबतक दूसरा उछल कर नीचे कूद जाता है, दूसरे को बिठाओ तो तीसरा उछल जाता है। उनका यही सिलसिला चलता रहता है, उन्हें कोई कैसे तौले ? तराजू पर कैसे इकट्ठा करे ? यही स्थिति समाज की है, कभी कोई इकट्ठे होंगे ही नहीं।

यह विचार आते ही प्रो० ज्ञान उसी समय रविवार के सवेरे छः बजे ही विज्ञान और सुदर्शन के पास दौड़ा-दौड़ा गया और दोनों से अपने मन की व्यग्रता व्यक्त करते हुए बोला – "देखो भाई ! अब बात बर्दाश्त के बाहर हो गई है। अब आज तो बैठक होना ही है। भले कोई आये न आये। इस समय मुझे अपने पिताजी की वह बात याद आ रही है, जिसे वे अक्सर कहा करते थे।"

विज्ञान ने जिज्ञासा प्रकट की – "वह क्या ?"

ज्ञान ने समाधान किया – "जब भी कोई किसी महत्त्वपूर्ण काम को कल पर टालने की कोशिश करता था तो उनके मुँह पर यह कहावत रखी ही रहती थी – **'अरे भाई ? करलो सो काम और भजलो सो राम'** ।

उनके कहने का तात्पर्य यह होता था कि – किसी भी शुभ काम को कल पर मत टालो। क्या भरोसा इस जीवन का ? इस जीवन में कल आयेगा भी या नहीं ? यह कोई नही जानता; अतः शुभ काम और आत्माराम की आराधना तो जितने जल्दी बने, उतनी जल्दी ही कर लेना चाहिए।"

इस संदर्भ में उनका एक अत्यन्त प्रिय भजन भी था, जिसे वे समय-समय पर गुनगुनाया करते थे। वह इसप्रकार है –

क्षण भंगुर जीवन की कलियाँ, कल प्रातःकाल खिलीं न खिलीं;
यमराज कुठार लिए फिरता, तन पर वह चोट झिली न झिली।
क्यों करती है तू कल-कल, कल फिर यह स्वांस मिली न मिली,
भज ले प्रभु नाम अरी रसना ! फिर अन्त समय में हिली न हिली ।।

प्रो० ज्ञान भावविभोर होकर गा रहा था और विज्ञान व सुदर्शन मंत्रमुग्ध होकर सुन रहे थे।

ज्यों ही प्रो० ज्ञान का भजन पूरा हुआ तो विज्ञान ने गद्‌गद् होकर कहा – "भाई ! भजन तो बहुत ही मनभावन और सचेत करने वाला है। सीधी मन पर चोट करता है। वस्तुतः हमें किसी भी काम को कल पर कतई नहीं छोड़ना चाहिए। आज मीटिंग हो ही जावे। जो आयेगा उसका स्वागत है और जो नहीं आ पायेगा, उससे फिर कभी क्षमायाचनापूर्वक परामर्श कर लेंगे।"

सुदर्शन ने विज्ञान की बात का समर्थन करते हुए कहा – "सबका एक साथ एकत्रित होना तो वैसे भी सम्भव नहीं है। जिसे रुचि नहीं है, वे घर पर बेकार बैठे-बैठे गपशप करते रहेंगे, पर मीटिंग में नहीं आयेंगे। भाई ! यह सब तो रुचि का खेल है। जिस काम में जिसकी रुचि है, उस काम के लिए तो उसके पास समय ही समय है और जिस काम में रुचि नहीं है, उसके लिए बहानों की क्या कमी ? उनके आने की आशा में समय खराब करने की आवश्यकता नहीं है।

विज्ञान ने कहा – "ज्ञान, बस तुम तो नोटिस निकाल दो और रामू को भेजकर सब सदस्यों के हस्ताक्षर करा लो। यदि चाहो तो तांगा या रिक्शा द्वारा माइक से मुहल्ले-मुहल्ले में मीटिंग की घोषणा करा दो। उससे सबको सूचना तो हो ही जायेगी। फिर उनकी मर्जी पर छोड़ दो। संयोग से आज समाज में किसी के यहाँ कोई पारिवारिक आयोजन भी नहीं है, अतः जिन्हें आना है, वे तो आ ही जावेंगे।"

× × ×

पुण्यात्माओं के मनोरथ तो प्रायः पूरे होते ही हैं। ज्ञान और विज्ञान ने जो निश्चय कर लिया था कि वे इस रविवार को बैठक बुलाकर ही रहेंगे, वे उसमें पूर्ण सफल रहे।

सौभाग्य से इस बैठक में लगभग सभी आमंत्रित विशेष व्यक्ति तो आ ही गये थे। घोषणा द्वारा प्राप्त एक साधारण-सी सूचना के आधार पर अन्य लोग भी अच्छी संख्या में यथासमय उपस्थित हो गये।

प्रो० ज्ञान ने बैठक बुलाने का उद्देश्य बताते हुए कहा – "आज की यह बैठक किसी सामाजिक समस्या को लेकर नहीं बुलाई गई है और न किसी व्यक्ति विशेष की समस्या सुलझाने हेतु ही आप लोगों को कष्ट दिया गया है। आज की यह बैठक एक ऐसे पवित्र उद्देश्य को लेकर आयोजित की गई है, जिसमें हम सबका हित है।

देखिए, हम लोग छोटे से वर्तमान मानव-जीवन को सुखपूर्वक जीने के लिए क्या-क्या नहीं करते? दिन-रात एक किए रहते हैं। केवल आर्थिक व्यवस्था को व्यवस्थित रखने के लिए ही तो हम बीस-बीस वर्ष तक कठोर परिश्रम करके इन्जीनियर, डॉक्टर, वकील, सी०ए० आदि की पढ़ाई करते हैं। बताइये धनार्जन के सिवाय इस पढ़ाई का और क्या उपयोग है?

यह तो आप जानते ही हैं कि मनुष्य और पशु में क्या अन्तर है? खाना, सोना, डरना और विषयवासना आदि तो मनुष्यों और पशुओं में समान ही होते हैं, इनसे तो मनुष्य में कुछ बड़प्पन या विशेषता है नहीं। हाँ, मनुष्य जीवन में एक धर्म से ही विशेषता आ

सकती है, जो कि बेचारे पशुओं को सरलता से नसीब नहीं होती। यदि मानव-जीवन में धार्मिकता न हो तो धर्मविहीन मानव तो पशु तुल्य ही है। एक संस्कृत कवि ने कहा भी है –

आहार-निद्रा-भय-मैथुनंच, सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिकी विशेषः धर्मेण हीनः पशुभिः समानः ।।

राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त तो पतित (पापी) जनों पर व्यंग करते हुए यहाँ तक लिख गये हैं कि – पापी मनुष्यों को पशु कहकर पशुओं का अपमान क्यों करते हो? अरे पापी पुरुषों से तो पशु बहुत अच्छे हैं, वे बेचारे अपने नैसर्गिक नियमों का भी उलघन नहीं करते। देखिये न उन्हीं के शब्दों में :–

पतित जनों में हम करते हैं, बहुधा पशुता का आरोप।
किन्तु पशु भी करता है क्या निज निःसर्ग नियमों का लोप ।।
मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ।
किन्तु पतित को पशु कहना मैं कभी नहीं सह सकता हूँ ।।

इससे स्पष्ट है कि धर्माचरण के बिना मनुष्य को मनुष्य कहलाने का भी अधिकार नहीं है; अतः आज हम एक ऐसा संगठन बनाने को एकत्रित हुए हैं, जिसके द्वारा हम स्वयं धर्माचरण सीखें और जन-जन में धर्म का प्रचार-प्रसार कर सकें। धर्म के बिना प्राणी कभी सुखी नहीं हो सकता। कहा भी है –

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वान।
धर्म पन्थ साधे बिना, नर तिर्यंच समान ।।

जिस माया और काया को आप केवल एक जन्म के सुख का साधन मानते हैं, उसे प्राप्त करने के लिए कितना क्या करते हैं – कुछ पता है आपको? केवल पैसा कमाने के लिए 25 वर्ष की उम्र तक प्रतिदिन 16-16 घण्टे परिश्रम करके अर्थकरी विद्या पढ़ते हैं या नहीं? क्या डॉक्टरी, इन्जीनियरिंग, चार्टर एकाउन्टेन्सी और बिजनिस मेनेजमेंट जैसी तकनीकी विधायें विशुद्ध अर्थकरी नहीं हैं?

और इनके पढ़ लेने मात्र से थोड़े ही धन आने लगता है, पूरे यौवन का क्रीम टाइम भी इसी रोटी-कपड़ा और मकान की समस्या हल करने में बीतता है।

उसमें भी यदि भाग्य ने साथ दिया तो, अन्यथा इतना करने के बाद भी जीवनभर धक्के खाने पड़ते हैं। खैर ? जो भी करते हो, करो। इस विषय में हमें कुछ नहीं कहना है।

पर, हम यहाँ यह अवश्य पूछना चाहते हैं कि – आप और हम सब यदि एक जनम के लिए इतना सब करते हैं तो हमें अपने आगामी अनंत जन्मों को सुख पूर्वक बिताने के लिए भी कुछ कहना चाहिए या नहीं ?

प्रो० ज्ञान के इस प्रभावशाली प्रेरणादायक भाषण को सुनकर सभी विचार में पड़ गये। उनके चेहरों से ऐसा लग रहा था कि मानों वे कह रहे हों कि – प्रो० ज्ञान की बात में दम तो है, यह भाषण कोरा भाषण नहीं है, उसमें उसकी जनकल्याण की पवित्र भावना का पुट भी है।

वस्तुत: हमने अब तक इस दिशा में कभी सोचा भी नहीं था, हम तो केवल खाने-कमाने में ही मग्न हो गये थे।

एक सदस्य ने विनम्रता से कहा – "भाई ! बात तो तुमने ठीक ही कही है, पर धरम ही तो सारे झगड़ों की जड़ है। देखो न आज मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारे; जो धर्मस्थल कहलाते हैं, सब युद्धस्थल बने हुए हैं। इससे तो हम अधार्मिक लोग ही अच्छे हैं न ?"

" नहीं भाई, ऐसी बात नहीं है। झगड़े धर्म से नहीं, धर्मान्धता से होते हैं। धर्म तो वीतरागता का दूसरा नाम है। क्या वीतरागी भी कभी किसी से झगड़ा-फसाद करते हैं ? धर्म की बातें तो बहुत लोग करते हैं, पर धर्म के रहस्य को बहुत कम लोग जानते हैं। धर्म की यथार्थ स्थिति को लोग जाने-पहचाने, इसके लिए ही तो आज हम यह संगठन बना रहे हैं।

वैसे देश में न तो युवाओं की कमी है और न युवा संगठनों की। पर वे सब संगठन शासन और समाज के लिए सिरदर्द बने हुए हैं, समस्या बने हुये हैं। नित्य नये आन्दोलन छेड़ना, तोड़-फोड़ करना, बसों, रेलों और कल-कारखानों में आग लगाना, लाखों की संख्या में जन-धन हानि करना-कराना ही जिनका काम है।

परन्तु यह संगठन जनता में अशान्ति की आग लगाने वाला नहीं, वरन् शान्ति, समता और अहिंसक क्रान्ति की शीतल अमृत धार बहाकर उस अशान्ति की आग को बुझाने वाला संगठन होगा; तोड़ने-फोड़ने वाला नहीं, धर्मस्नेह के धागे से जोड़ने वाला संगठन होगा।

यह जन-जन में धार्मिक भावना भरने वाला, दुराचार से हटाकर सदाचार के मार्ग पर लाने का रचनात्मक काम करने वाला संगठन होगा।

इस संगठन ने संरक्षक के रूप में डॉ० धर्मचन्द जैसे समाज के सेवाभावी वयोवृद्ध व्यक्तियों का मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद प्राप्त करने का लक्ष्य भी रखा है; क्योंकि काम करने के लिए जहाँ युवाओं का जोश चाहिए वहाँ वृद्धों का होश भी चाहिए। युवकों में जोश तो बहुत होता है, पर होश की कमी रहती है। इसके विपरीत बुजुर्गों में होश बहुत है, वे सोचते बहुत हैं; परन्तु उनकी भुजाओं में अब काम करने की ताकत नहीं रही। अतः युवकों का जोश और वृद्धों का होश मिल कर समाज में नई चेतना लाने वाला यह संगठन अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होगा—ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

हमारे इस संगठन में एक महिला विभाग भी रहेगा, जिसका नेतृत्व हमारी भाभी श्रीमती विद्या, सुनीता एवं सरला करेंगी।"

प्रो० ज्ञान ने बैठक बुलाने का उद्देश्य बताकर अगले वक्ता को बुलाते हुए कहा – "अब मैं आदरणीय विद्या भाभी से भी विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि वे भी अपने विचार रखें।"

"आदरणीय पिता तुल्य आज के अध्यक्ष डॉ० धर्मचंदजी, धर्मबन्धु प्रो० ज्ञानजी, मि० सुदर्शन एवं उपस्थित सज्जनो, माता और बहिनो! मैं इस अवसर पर केवल इतना कहना चाहूंगी कि संसारी प्राणियों को इस संसार में परिभ्रमण करते हुए यह दुर्लभ, अमूल्य मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल और जिनवाणी सुनने-समझने का सौभाग्य बड़ी मुश्किल से मिलता है। यदि यह एक बार हमारे हाथ से यों ही खाते-कमाते और रोते-गाते निकल गया तो इसका बार-बार मिलना कठिन ही नहीं, असंभव है।

इस संदर्भ में कविवर दौलतरामजी के छहढाला ग्रन्थ की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। वे लिखते हैं –

यह मानुष पर्याय सुकुल सुनबो जिनवाणी,
इह विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी।

इसलिए मैं तो केवल इतना निवेदन करना चाहती हूँ कि – यह संगठन समय-समय पर जो भी आयोजन करे, कार्यक्रम बनाये, हम उसमें समर्पण भाव से अपना सहयोग दें और इसके धार्मिक आयोजनों का भरपूर लाभ उठायें।

जीवन में यदि कुछ प्राप्त करने लायक है तो वह केवल धर्म ही प्राप्त करने लायक है। और तो हम सब कुछ अनेक बार प्राप्त कर चुके हैं, यदि नहीं किया है तो एक धर्माचरण नहीं किया है, अन्यथा वर्तमान में हमें ये दुःखद दिन नहीं देखने पड़ते। यह संगठन अपने उद्देश्य में सफल हो इस शुभकामना के साथ मैं यह विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि मेरा इसमें तन-मन-धन से पूरा सहयोग और समर्पण रहेगा। मुझसे जो कुछ भी बन सकेगा, मैं इसके लिए करती रहूँगी।"

विद्या जैन की मार्मिक अपील ने धर्म से सर्वथा अपरिचित व्यक्तियों के हृदय में भी जैन तत्व को जानने-समझने की जिज्ञासा एवं धर्म को धारण करने की रुचि उत्पन्न कर दी।

× × ×

एक जिज्ञासु ने विनम्रतापूर्वक कहा – "धर्माचरण की बातें तो सब करते हैं, पर धर्म क्या है और कैसे प्राप्त होता है – यह आज-तक समझ में नहीं आया। क्या आप में से कोई हमें संक्षेप में और सरल भाषा में धर्म का स्वरूप समझाने की कृपा करेंगे ?"

प्रो० ज्ञान ने कहा – "हाँ, हाँ आपकी जिज्ञासा को तृप्त करने की कोशिश करना हमारा कर्त्तव्य है। हम आपको धर्म का यथार्थ स्वरूप समझाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेंगे, पर कह नहीं सकते, अभी एकाध घण्टे में कितना/क्या समझा पायेंगे, और आप भी कितना/क्या ग्रहण कर पायेंगे ? इसके लिए तो आपको कुछ दिन तक

नियमित रूप से प्रतिदिन एक घंटे का समय निकालना होगा, तब कहीं धर्म का सही स्वरूप समझ में आ पायगा ! यदि आप समय पर आ सकें तो हम तो कल से ही धर्म के स्वरूप को विस्तार से समझाने के लिए एक प्रौढ़ कक्षा का कार्यक्रम प्रारम्भ कर सकते हैं। प्रवचन तो प्रतिदिन प्रातः एवं रात्रि में होता ही है, प्रवचनों में भी आप सादर आमंत्रित हैं।

अब मैं युवा विद्वान पण्डित राजेश शास्त्री, जिन्हें हम प्यार से 'राजू' कहते है, से अनुरोध करता हूँ कि वे आगे आयें और संक्षेप में बोल-चाल की भाषा में धर्म का मर्म समझाने का कष्ट करें।

पण्डित राजेश शास्त्री के विषय में मैं क्या कहूँ – पण्डित राजेश शास्त्री हमारे श्रद्धेय डॉक्टर धर्मचन्द जैन के ही होनहार पुत्र और हमारे बचपन के सहपाठी एवं मित्र हैं। जो कभी राजू के नाम जाने-पहचाने जाते थे। इन्होंने जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में ५ वर्ष पूर्व अध्ययन करके राजस्थान विश्वविद्यालय से जैनदर्शनशास्त्री परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर अपने माता-पिता को तो ढेरों खुशियाँ दी ही हैं, हमारे नगर का भी गौरव बढ़ाया है।"

पण्डित राजेश शास्त्री ने अपने वक्तव्य में स्वामी समन्तभद्राचार्य के रत्नकरण्डश्रावकाचार में आये धर्म के स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहा – "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही तीर्थंकर भगवान ने धर्म कहा है और इससे उल्टे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र अधर्म हैं। धर्म जीवों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में पहुँचाता है और अधर्म प्राणियों को संसार के दुःखसागर में डुबा देता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि – आप यह क्या कह रहे हैं ? यह तो हम आपसे पहली बार सुन रहे हैं। ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्या वस्तु हैं ? और इनसे धर्म का क्या सम्बन्ध है ?

हमें तो हमारे माता-पिता और पूर्वजों ने यह बताया था कि प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व उठते ही ९ बार णमोकार मंत्र पढ़ना चाहिए, अपने इष्ट देव का स्मरण करना चाहिए, नित्यकर्म से निवृत्त होकर मन्दिर जाकर अपनी सुविधानुसार दर्शन-पूजन भी करना चाहिए। धार्मिक पर्वों पर विशेष पूजन-पाठ करना चाहिए।

समय-समय पर शास्त्रों में बताये अनुसार व्रत-उपवास, दान-पुण्य एवं तीर्थयात्राओं के कार्यक्रम भी बनाते रहना चाहिए। सो वह सब हम अपनी शक्ति व भक्ति के अनुसार बराबर कर रहे हैं।

हमारे पूर्वज यह भी कहा करते थे कि यह सब करते हुए न्याय-नीति से अपने गृहस्थोचित कर्त्तव्यों का पालन करना भी गृहस्थों का धर्म है। आत्मा की साधना-आराधना करना तो साधु-संतों का काम है।

हमारी कुल परम्परा में तो यही सब पीढ़ियों से होता आया है और हाँ उन्होंने यह भी बताया था कि जैन लोग रात्रि भोजन नहीं करते, अनछना पानी काम में नहीं लेते, जमीकंद नहीं खाते, मद्य-मांस-मधु का सेवन नहीं करते, कोई दुर्व्यसन भी जैनी में नहीं होता। जो लोग सामान्य सदाचार का पालन नहीं करते वे तो नाममात्र के भी जैन नहीं हैं। जैन कोई जाति नहीं है, जो इन्द्रियों और मोह-राग-द्वेष को जीतता है, अहिंसात्मक आचरण करता है, वही जैन है। इसलिए हम अपनी कुल परम्परा से चली आई इन सभी धार्मिक क्रियाओं का दृढ़ता के साथ पालन करते हैं। हमारे पूर्वजों ने तो हमें यही सब बताया है; पर आप तो हमें धर्म का स्वरूप कुछ अलग ही बता रहे हैं। हमारी इन क्रियाओं में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात तो कहीं आई ही नहीं है? हम जो करते हैं, क्या वह धर्म नहीं है।"

पण्डित राजेशजी ने बहुत प्रेमपूर्वक उन्हें समझाया – "नहीं भाई! ऐसी बात नहीं है, आप जो भी करते हैं, ज्ञानी धर्मात्मा लोग भी वही सब करते हैं। बाह्य क्रियाओं में कोई फर्क नहीं होता है, फर्क होता है समझ-नासमझ में। समझ पूर्वक की गई यही सब क्रियायें सार्थक हो जाती हैं और नासमझी में की जाने से सारा श्रम निरर्थक हो जाता है। अतः हम जो कुछ भी करें, समझपूर्वक करें देखो, जिसप्रकार किसान खेत को साफ करे, जोते, नींदे, गोडे, पानी भी देवे, बाड़ भी लगाये, पूरा परिश्रम करे और बीज न डाले तो क्या उस खेत में धान की फसल उगेगी?"

जिज्ञासु ने कहा – "नहीं बिल्कुल नहीं उगेगी, भला बीज बोए बिना भी कभी फसल उगती है?"

राजेश ने कहा – "बस यही स्थिति धर्म की है। सम्यग्दर्शन धर्म का बीज है और बाह्य क्रियायें धर्म रूप खेत की निंदाई-गुड़ाई, सफाई व सिंचाई करने के समान हैं।

हम लोगों ने अबतक अपने-अपने धर्म के खेत को सब तरह से तैयार तो किया, पर उसमें सम्यग्दर्शन रूप धर्म का बीज नहीं बोया। इसकारण ही उसमें सम्यक् चारित्र रूप धर्म के फलों से भरपूर वीतरागता, समता एवं सच्चा सुख-शान्ति देनेवाली फसल नहीं उगी। हमने पुण्य-पाप के बीज ही बोए हैं, अतः उसके फल में संसार में जन्म-मरण करने रूप आकुलता और दु.ख की घास ही उगती रही है।

मैं इसमें अपने पूर्वजों का दोष नहीं मानता, उन्होंने तो हमें सही मार्गदर्शन ही दिया था, पर उसके समझने में हम ही कहीं चूके हैं। देखिए कैसी-कैसी भूले हो जाती हैं ? आप कल्पना भी नहीं कर सकते।

इस प्रसंग में अपने भूल का अहसास कराने वाली एक कहानी मुझे याद आ रही है – एक रोगी वैद्य के पास गया, वैद्यजी ने रोग का भली-भांति परीक्षण करके एक नुस्खा लिखा और बहुत ही जता-जताकर अच्छी तरह समझाया कि – इसे कूटकर, पीसकर कपड़छन करके खाली पेट मिश्री की चासनी में मिलाकर चाटना; भगवान, ने चाहा तो एक ही खुराक में गारंटी से तुम्हारा रोग ठीक हो जायेगा। परसों आकर मुझे रिपोर्ट देना।

पर उस नुस्खे से उसे बिल्कुल भी आराम नहीं मिला। अतः वह शिकायत की मुद्रा में वैद्यजी के पास पहुँचा और व्यंग में बोला – क्या आपकी सब दवायें भगवान के भरोसे पर ही काम करती हैं ? आपके भगवान ने नहीं चाहा और मुझे एक रत्ती भर भी आराम नहीं मिला।

वैद्यजी को भारी आश्चर्य हुआ – यह हुआ कैसे ? दवा तो रामबाण औषधि है, लाभ न हो – ऐसा तो हो नहीं सकता ? पर मरीज भी तो असत्य नहीं बोल रहा है। सोचते-विचारते वे निराशा के स्वर में बोले – लाओ दिखाओ पर्चा देखें, नुस्का लिखने में कहीं कोई भूल-चूक तो नहीं हुई ?

रोगी बोला – क्या ? पर्चा ! कैसा पर्चा ?

अरे ! वही पर्चा, जो मैंने लिखकर दिया था – वैद्यजी ने कहा।

वह तो दवा थी न ? उसे ही तो मैंने कूटकर, पीसकर, छानकर चासनी में चाटा है।

वैद्यजी ने रोगी की नासमझी पर अपना माथा ठोक लिया।

लगता है धर्म का स्वरूप समझने में यही स्थिति हमारी हुई है।"

राजू ने आगे अपने वक्तव्य में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर जोर देते हुए कहा – "भला जिसे तीर्थंकर भगवान ने धर्म कहा हो, उसे कैसे नकारा जा सकता है ? आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाते हुए यह भी तो लिखा है कि – व्यवहार से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और निश्चय से अपने आत्मद्रव्य का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। देव-शास्त्र-गुरु व आत्मा के श्रद्धान-पूर्वक इनका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है तथा निज आत्मा में रमना, जमना और उसी में समा जाना सम्यक्चारित्र है। देखो ! देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान से सात तत्व का श्रद्धान भी यथार्थ हो जाता है।

जिस वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और स्याद्वाद वाणी का दर्शन-पूजन और अध्ययन-मनन हम करते हैं, उनका स्वरूप क्या है ? हमारे द्वारा किए जा रहे दर्शन-पूजन का प्रयोजन क्या है ? ये सब हम क्यों करते हैं ? इनके सिवाय और भी जो-जो क्रियायें हम धर्म के नाम पर करते हैं, वे क्यों करते हैं ? उनके करने से हमें क्या लाभ है ? यदि हम इस दिशा में सोचेंगे–विचार करेंगे तो हमें स्वयं समझ में आ जायेगा कि – वस्तुतः धर्म क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है ?

अरे भाई ! धर्म कोरी परम्पराओं के पालने या निर्वाह करने में नहीं है, वह तो स्व-परीक्षित साधना है। अतः हमें परीक्षा प्रधानी बनना पड़ेगा। केवल परम्परागत बाह्य आचरण धर्म नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें तो केवल राग की ही पूर्ति होती है। वीतरागता की प्राप्ति नहीं होती।

अकेली धर्म की परिभाषायें याद कर लेने और उन्हें भले प्रकार अभिव्यक्त करने लगने से भी धर्म प्रगट नहीं होता। परिभाषाओं की

पुनरावृत्ति तो हमसे अच्छी टेपरिकार्डर कर लेता है तो क्या वह धर्मात्मा हो जायेगा ? अरे ! जब वह आत्मा ही नहीं तो धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? उन परिभाषाओं का भी प्रयोग करना होगा, उन्हें अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाना होगा – तभी वीतराग धर्म की प्राप्ति हो सकेगी।

वस्तुत: धर्म तो अपना स्वभाव है। क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष-मोह, अज्ञान आदि आत्मा के स्वभाव के विपरीत भाव हैं; अत: ये धर्म नहीं, बल्कि अधर्म हैं। त्यागने योग्य जानकर इनका हेयरूप श्रद्धान करना तथा वीतरागता, सर्वज्ञता, समता, शान्ति, निराकुलता, दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के स्वभाव हैं; अत: ये सब आत्मा के धर्म हैं। इन्हें उपादेय रूप जानकर दोनों का यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है और यही वास्तविक धर्म है। ऐसे आत्मधर्म की प्राप्ति हम सबको शीघ्र हो, ऐसी शुभकामना के साथ मैं अपने वक्तव्य से विराम लेता हूँ।"

राजू के इस मार्मिक वक्तव्य को सुनकर लोगों ने दाँतों तले उंगली दबा ली। एक ने कहा – "अरे! यह वही राजू है, जो संजू के साथ रहकर आवारा बन गया था। धन्य है भाई तुझे और तेरे उन माता-पिता को, जिन्होंने अपना पुत्र मोह छोड़कर पाँच वर्ष के लिए सिद्धान्त महाविद्यालय में पढ़ाकर तुझे इस योग्य बना दिया।"

राजेश के वक्तव्य पर श्रोताओं की सामूहिक प्रतिक्रिया देखकर प्रो० ज्ञान ने सबको धन्यवाद देते हुए मि० संजय जैन को आमंत्रित किया और उसका परिचय कराते हुए कहा – 'यह वही संजय जैन है, जिन्हें आप लोग संजू नाम से जानते-पहचानते रहे हैं। इन्होंने अनेक प्रतिकूलताओं के बाद भी जो पुरुषार्थ किया है, वह आप स्वयं इनसे सुनकर देखेंगे – आइये मि० संजय ?"

संजू ने सभी को सम्बोधित करते हुए कहा – "लोक में धर्म की भिन्न-भिन्न परिभाषायें और मान्यतायें प्रचलित हैं, जिनमें अधिकांश कपोलकल्पित हैं, जिनसे भोले जीव भ्रमित हो रहे हैं। धर्म के सही स्वरूप से अनभिज्ञ लोग धर्म के स्वरूप को अपने-अपने तरीके से परिभाषित करते आ रहे हैं, पालते आ रहे हैं, जो वास्तविक नहीं हैं।

कोई तो अपनी अत्यन्त पुरानी परम्पराओं से चिपके हैं, ऐसे लोग कुलाचार को ही धर्म माने बैठे हैं, और कोई अत्याधुनिक बनकर

सम्पूर्ण परम्पराओं को भूलकर खाओ-पियो और मौज करो, धर्म सब ढोंग है, आडम्बर है, – ऐसी धारणा बनाकर धर्म को तिलांजलि दे बैठ हैं। पर वे सब भूल में हैं। मेरी भी कुछ समय पूर्व तक यही स्थिति थी; पर........।

बंधुओ ! धर्म की प्राप्ति न तो केवल धर्म की परिभाषाओं को याद कर लेने से ही होती है और न कोरी परम्पराओं के पालने से ही धर्म की प्राप्ति संभव है।

पण्डित सदासुखदासजी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में लिखा है कि – भगवान अर्हन्तदेव के मुखारबिन्द से प्रगट हुआ क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशधर्म आत्मा का स्वभाव है, पर वस्तु नहीं है। क्रोधादि कर्मजनित उपाधि दूर होने पर आत्मा का वह स्वभाव स्वयमेव प्रगट होता है।

इस धर्म को कोई छीन नहीं सकता, चुरा नहीं सकता, बिगाड़ नहीं सकता ? यह धन के द्वारा खरीदा नहीं जा सकता। यह तीर्थ, मन्दिरों, नदी, पर्वतों में धरा नहीं है, जो वहाँ जाकर लाया जा सके। यह तो आत्मा का निज स्वभाव है। इसकी प्राप्ति तो आत्म स्वभाव के सम्यक्ज्ञान व सत्य श्रद्धान से होती है।

तथा यह इतना सुगम है कि बालक , वृद्ध-युवा, धनवान-निर्धन, बलवान-निर्बल, रोगी-निरोगी, अनाथ-असहाय-सभी को स्वाधीनता से सहज ही प्राप्त हो सकता है।

धर्म के धारण करने में कुछ खेद, क्लेश, अपमान, भय, विषाद, कलह आदि किसी प्रकार का कोई बोझ नहीं लगता, भाग-दौड़ भी नहीं करनी पड़ती। धर्म अत्यन्त सुगम समस्त क्लेश-दुःख रहित स्वाधीन आत्मा का ही सत्य परिणाम है। तथा अनन्त दर्शन-ज्ञान-चारित्र व सुख इसका फल है।

इस धर्म और धर्म के फल की प्राप्ति हम सबको हो – यही मेरी भावना है। मैं संकल्प करता हूँ कि – मेरा तन-मन-धन इसी की सेवा में सदा समर्पित रहेगा।"

अन्त में डॉ० धर्मचंद जैन ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा – कि भाई ! घर-द्वार और कुटुम्ब-परिवार के राग की आग में तो

सभी जलते-मरते हैं, अपने बाल-बच्चों की चिन्ता कौन नहीं करता ? चिड़िया जैसे साधन-विहीन प्राणी भी अपने बच्चों को घोंसला बनाते हैं और उन्हें पालते-पोसते हैं, उन्हें चुग्गा ला-लाकर चुगाते हैं, अतः अपने कुटुम्ब-परिवार के भरणपोषण में ही सारा जीवन बिता देना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है।

बुद्धिमानी की बात तो यह है कि कुटुम्ब-परिवार की जिम्मेदारी का निर्वाह करते हुए हम धर्म और समाज की सेवा में समर्पित रहें।

इस मौके पर सबसे पहले मैं विज्ञान के स्व० दादाजी को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिनके द्वारा बाल्यकाल में संस्कार पाकर विज्ञान ने अपने मानव जीवन को तो सफल और सार्थक कर ही लिया, युवा-वर्ग के मार्गदर्शक भी बने। कदाचित् उनके द्वारा वे पौराणिक कथायें सुना-सुनाकर विज्ञान को धार्मिक संस्कार न दिये होते तो आज जो हम धर्म प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में यह चमत्कार देख रहे हैं, देखने को नहीं मिलता।

मैं इस अवसर पर अपने स्व० पूज्य पिताजी को स्मरण किए बिना भी नहीं रह सकता, क्योंकि उन्होंने न केवल कहकर बल्कि धार्मिक जीवन जीकर भी वे मुझे जीवनभर प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रेरणा दी एवं सन्मार्ग दिखाया।

यद्यपि कार्य की व्यस्तता के कारण मैं उनके द्वारा संग्रहीत सत्साहित्य धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं का उनके जीवन-काल में अधिक उपयोग नहीं कर पाया, कल पर ही टालता रहा, और जबतक वह कल आने का समय आया, मैं अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त हुआ ही था कि वे दिवंगत हो गये, महाप्रयाण कर गये। इसका मुझे अफसोस है। पर.........।

वे मुझे अपने जीवन काल में तो प्रेरणा देते ही रहे, मरणोपरान्त आज भी स्वप्नों में आ-आकर सावधान करते हैं। मैं उनके जीते-जी तो अधिक कुछ नहीं कर पाया, पर उनके अभाव में मैंने अपने जीवन को भी उनकी भावना के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है और अपने बेटे राजू को भी उनकी भावना के अनुरूप विद्वान बनाने में सफल हो गया हूँ – इसका मुझे विशेष हर्ष है।

वे जहाँ भी होंगे, राजू को एक युवा विद्वान के रूप में देखकर अवश्य प्रसन्न और संतुष्ट होंगे।

मुझे उनके द्वारा मंगाई जा रही आध्यात्मिक मासिक पत्रिका की विज्ञप्ति से ही राजू को उस महाविद्यालय में प्रवेश दिलाने की जानकारी मिली थी, जिस कारण राजू आज इस योग्य बन सका है।

उन्होंने हमें धन-सम्पत्ति तो दी ही, धर्म के संस्कार भी दिये; अतः हम उनका जितना भी उपकार मानें कम है। वे सर्वोच्च न्यायालय के सर्वोच्च पद पर पदासीन होकर धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत थे।

मैं इस अवसर पर प्रोफेसर ज्ञान के पिताश्री को भी धन्यवाद देना चाहूँगा; क्योंकि उन्होंने भी हमें प्रो० ज्ञान जैसा कठोर परिश्रमी, ईमानदार, सज्जन और संस्कारी सपूत दिया है। प्रो० ज्ञान लौकिक शिक्षा के तो गुरु हैं ही, धर्म के क्षेत्र में भी वे गुरु बन गये हैं। और तो ठीक, पर विज्ञान जैसे मित्र को सन्मार्ग पर लाने वाला यदि कोई है तो वह प्रो० ज्ञान ही हैं।

प्रो० ज्ञान के पिताश्री भी एक आदर्श अध्यापक और सच्चे धर्मात्मा पुरुष थे। उनका आदर्श जीवन हम सबके लिए अनुकरणीय था। वे मेरे भी प्रारम्भिक शिक्षा गुरु रहे थे, मैं उन्हें प्रमाण करता हूँ।

मि० सुदर्शन के सहयोग की तो कोई होड़ ही नहीं है। उनकी दैनिकचर्या अपने लिए अद्वितीय और अनुकरणीय है। इतने बड़े एडवोकेट होने पर भी अपने व्यस्त जीवन में से समय निकालकर धर्म और समाज के लिए सदा समर्पित रहते हैं, एतदर्थ मैं आप सबको धन्यवाद देता हूँ और सबके दीर्घ जीवन की मंगल कामना करता हूँ।"

उपस्थित जन-समुदाय को संबोधित करते हुए डॉ० धर्मचन्द ने कहा –

"मैं इस समय अधिक कुछ न कहकर आप सबसे भी यही अपील करना चाहता हूँ कि आप लोग भी इस संगठन द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेकर सदैव लाभ लेते रहें; क्योंकि जीवन में केवल यही एकमात्र करने योग्य कार्य है।

मेरा संगठन और संगठन के सभी कार्यकर्ताओं के लिए यही मंगल आशीर्वाद और शुभकामनाएँ हैं कि आप सब प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते हुए आत्मोन्नति के चरम लक्ष्य को प्राप्त करें।

मैं अपनी ओर से अपने पूज्य पिताजी की पुण्य स्मृति में आपके इस संगठन को ध्रुवफण्ड में एक लाख एक सौ एक रुपये देने की सहर्ष घोषणा करता हूं तथा आपको वचन देता हूं कि आगामी पांच वर्ष तक आप जितने भी धार्मिक शिक्षण के विशेष आयोजन कर सकें, करें; उनका सम्पूर्ण खर्च मैं वहन करूंगा। मैं अपने पूज्य पिताजी द्वारा प्राप्त सारी सम्पत्ति का सदुपयोग तत्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में ही करना चाहता हूं।

संजू ने भी अपने पिता स्व० सेठ सिद्धोमल की पुण्य स्मृति में एक लाख एक सौ एक रुपया देने की घोषणा की। सभा मे उपस्थित अन्य धर्मप्रेमी बन्धुओं ने भी संगठन को अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार दिल खोल कर दान दिया।

सम्पूर्ण सभा ने संजू के संघर्षशील जीवन तथा धार्मिक भावनाओं का और डॉ० धर्मचन्द की पवित्र भावनाओ और उदार सहयोग का करतल ध्वनि से स्वागत किया।

अंत में सुदर्शन ने संगठन की ओर से सब सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करके धन्यवाद देते हुए सर्वप्रथम उपवन में विराजमान साधु संघ को परोक्ष रूप से साधुवाद दिया और कहा कि – "हमारे सौभाग्य से इस वर्ष हमें आचार्य सघ के चातुर्मास से जो प्रवचन सुनने का अपूर्व और अद्भुत लाभ मिला, उसे व्यक्त करने के लिए हमारे पास ऐसे कोई शब्द ही नहीं हैं, जिनके द्वारा हम उनके प्रति अपने हृदय के भक्तिभावों को व्यक्त कर सकें। उनके प्रति हमारा शत्-शत् नमन है।

डॉ० धर्मचन्द, प्रो० ज्ञान, उद्योगपति विज्ञान, प्रिय मित्र संजू, राजू, श्रीमती विद्या, सरला, सुनीता एवं सभी सदस्यो एवं सहधर्मी सज्जनों ने हमारे संगठन को मजबूत बनाने और कार्यक्रमों को सफल बनाने में जो प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सहयोग दिया है, उसके लिए मैं संगठन की ओर से उन सबका आभार मानता हूं और धन्यवाद देता हूं। तथा आशा और अपेक्षा करता हूं कि आप सबका इसीप्रकार का स्नेह व सहयोग बना रहेगा। जयजिनेन्द्र। □